श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्री १०८ स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरि जी महाराज मण्डलेश्वर,
कैलासाश्रम हृषीकेश [देहरादून]

ॐ

जटाधृतोत्तुङ्गतरङ्गगङ्गं
सद्यः कृतानङ्गपतङ्गभङ्गम्।
भुजङ्गसङ्गं श्रितशैलशृङ्गं
सदाशिवं नौमि सदाशिवाङ्गम् ॥१॥

त्रिविधतापविघातसुधासरः
प्रबलमोहतमोहृदहस्करः
स्वजनचित्तचकोरनिशाकरो
जयति देशिकराजधुरन्धरः ॥२॥

नानातर्कसमुच्छलन्मणिगणव्याप्तो गभीरो महान्
क्वायं प्रौढमतिप्रपोतसुतरो वेदान्तरत्नाकरः ॥
स्वल्पग्रन्थसरोऽवगाहनविधावप्याकुला सन्ततं
सच्छिद्राऽल्पतरीर्निसर्गतरला क्वेयं मनीषा मम ॥ ३ ॥

तथापि सम्प्राप्य गुरोः प्रसादं
भवामि शक्तो विवृतावमुष्य ॥
न सूर्यकान्तो रवितेजसेद्धो
न दारुभारं प्रदहेददाहः ॥ ४ ॥

* ॐ *

॥ दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः ॥

इस विषयमें किसीकी भी असम्मति नहीं है कि जिस कार्यकी सिद्धिके लिये जो उपाय निश्चित है उसी का यथावत् अनुष्ठान करने से उसकी सिद्धि हो सकती है। अन्य उपायका यथावत् साधन करनेसे तथा उस उपायका भी अयथावत् अनुष्ठान करनेसे कभी उस कार्यकी पूर्ति नहीं हो सकती। दृष्टान्तके लिये जैसे पृथिवीके अधोभागमें जल है, और उसकी प्राप्तिका उपाय है खोदना। फिर भी आड़ा खोदने अथवा कम खोदनेसे हम कभी जल प्राप्त नहीं कर सकते। ठीक यही नियम पारमार्थिक विषयोंमें भी कार्यकर है। आध्यात्मिकादि दुःखोंसे संतप्त संसार का प्रत्येक प्राणी उसके परिहार तथा सुख और शान्तिके लाभके लिये सर्वदा कमर कसे रहता है। परन्तु अभीष्ट फलकी प्राप्ति किसी-किसी को ही होती है। शेष सब पूर्ववत् दुःखाक्रान्त ही देखे जाते हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि या तो उनको अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिये ठीक उपाय का बोध नहीं है अथवा बोध होने पर भी वे किन्हीं कारणोंसे उसका ठीक अनुष्ठान नहीं कर सकते। आगेके श्लोकों में यही बताया जायगा कि मनुष्यको अपना लक्ष्य कैसे प्राप्त हो सकता है। उसके मार्ग में कौन कौन बाधाएँ उपस्थित होती हैं उनको दूर करने का क्या साधन है। मोक्षमार्गमें चलने वालेको सबसे पहले क्या करना हितकर है। किन किन कारणोंसे उसे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिसे वञ्चित रहना पड़ता है इत्यादि। आशा है पाठकवृन्द इन श्लोकोंका अध्ययन तथा मनन करके अपने श्रेयोमार्ग में अग्रेसर होंगे और संसार ——ने [illegible] भी अविवेकमूलक दुःखोंसे बचेंगे।

श्रीगणेशायनमः

वेदान्तरत्नाकरः

संसारोरुकरञ्जकाननभुवं चेतोऽम्बुदा गोचरा
बोधार्कं स्त्रपिधाय सन्ततममी सिञ्चन्ति रागाम्बुभिः ।
जीवोऽयं चिरमत्र घोरगहने भ्राम्यन्नहो ताम्यति,
त्राता कोऽस्य पशोर्ऋते पशुपतेः संसारकान्तारतः ॥१॥

यह ससारएक अत्यन्त गहन करञ्जवन है, जो चित्तरूपी पृथ्वीमें उत्पन्न होता और फलता-फूलता है। उस चित्तभूमि में विषयात्मक मेघ ज्ञान-सूर्यको ढककर रागरूपी जल बरसाते हैं, जिससे ससार वनकी पुष्टि होती है। यह जीव अनादि कालसे

इस घोर जंगलमे भटकता भटकता बहुत दुःखी हो रहा है। इस संसार-काननसे जीव की रक्षा परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ दुःखमय ही है। किसी किसी पदार्थमें जो सुख का भान होता है वह केवल प्रतीति मात्र ही है। यदि वह पदार्थ सुखमय होता तो कालान्तर देशान्तर तथा अवस्थान्तरमे उसमें ग्लानि नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु ग्लानि होती देखनेमें आती है। इस लिये धनादि पदार्थोंमे सुखत्व बुद्धि केवल भ्रम है और ऐसा भ्रम होनेका कारण अन्य पदार्थोंमे अधिक दुःखमयत्वकी प्रतीति है। अधिक दुःखकी अपेक्षा स्वल्प दुःख सुखरूप ही होता है। जैसे ज्वरसे पीड़ित अथवा मार्ग चलनेसे थके हुए पुरुषके पैरो को दबाया जाय, तो उसे वह सुखरूप प्रतीत होता है वैसी ही बात यह भी है। ऐसे इस दुःखमय संसारसे बचने का उपाय जन्मसे छुटकारा पाना है, क्योकि शरीर धारण करनेपर कोई दुःखसे नहीं बच सकता। जन्मसे छुटकारा पाना आत्मतत्त्वके साक्षात्कार के बिना असम्भव है। श्रुति कहती है तरति शोकमात्मवित् और आत्मज्ञानका कारण ईश्वरभक्ति है। 'मोक्ष कारणसामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी' इस लिये संसार दुःखसे बचनेकी कामना वाले पुरुषका कर्तव्य है कि वह परमात्मा का ध्यान तथा भजन करता हुआ उसकी शरण में रहे। यही बात भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कही है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१॥

ऊपरके श्लोकमें भगवद्भक्तिको दुःखनिवृत्तिका साधन कहा; परन्तु जिस प्रकार कोई विद्यार्थी खेल कूदमें आसक्ति रखता हुआ विद्याऽर्जन करना चाहे तो यह सर्वथा असम्भव है। उस को यदि सच्चा विद्यार्थी बनना हो तो खेल-कूदको तिलाञ्जलि ही देनी पड़ेगी। इसी प्रकार जो पुरुष सच्चा भगवद्भक्त एवं मुमुक्षु बनना चाहे उसे भी सांसारिक विषयोंमें राग का सर्वथा त्याग ही करना होगा। अन्यथा वह अपने लक्ष्यको हस्तगत करनेमें कदापि सफल न होगा। यही अगले श्लोकमें प्रतिपादन किया जावेगा।

यावद्रागस्य रेखा विलसति हृदये प्रेयसि क्वापि जन्तो-
र्मन्तोस्तावन्न मुक्तः प्रभवति भवितुं कोऽपि संसार हेतोः।
चेतोऽस्वस्थं च तावद्विषयविषरसोल्लास वैषम्य भावाद्
दावाद्यस्माद् भवाभादवितुमभिलषन् स्त्यादवावाऽनुरक्तः॥२

जबतक मनुष्यके हृदयमें किसी भी प्रिय वस्तुविषयक अनुराग का विन्दु भी है तवतक सांसारिक दुःखोंके मूल कारण अज्ञानरूप अपराधसे मुक्त नहीं हो सकता। और तभीतक विषयोपभोगकी इच्छाके तारतम्यसे उसका चित्त अस्थिर रहेगा। इस लिये इस दावानलके सदृश सन्तापजनक संसारसे अपनी रक्षा चाहनेवाले पुरुषको सबसे पहले विषयानुरागको दूर करना चाहिये। रागका अभाव होनेसे चित्त संसार से हटकर निरन्तर ईश्वरपरायण होता हुआ ज्ञानप्राप्त करके परमपद का अधिकारी होगा, जहाँ से फिर लौटनेका भय नहीं है॥२॥

जैसे किसी सरोवर में नलद्वारा रात-दिन जल गिरता रहता हो और उससे वह तडाग सर्वदा जलसे भरा रहता हो तो यदि हम उसे जल से खाली करना चाहें तो हमें दो कार्य करने होंगे। प्रथम तो जल डालनेवाले नलको बन्द करना होगा। फिर किसी पात्रद्वारा तालाबका जल बाहिर फेंकना होगा, तब वह जल से खाली हो सकेगा। ठीक यही प्रक्रिया चित्त रूपी तड़ागको खाली करने की है। इस चित्त-सरोवरमें अनादि कालसे राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभकी दुर्वासनारूप जल भरा हुआ है तथा भविष्य में भी कुसङ्गरूप नल द्वारा इस में जल आता रहता है। यदि हमें इसे दुर्वासनारूप जल से खाली करना हो तो पहिले कुसङ्गरूप नलको बन्द करना होगा, फिर विषय-दोषदर्शन और चित्तप्रबोधन आदि पात्रोंद्वारा दुर्वासना रूप जलको बाहिर निकालना पड़ेगा। तब कहीं चित्त निर्मल होकर भगवद्भक्ति में लगेगा, जिससे इस को परमगति का लाभ होगा। अब अगले श्लोकमें राग क्यों दूर करना चाहिये, यह विषय पूर्वार्द्ध में कहकर उत्तरार्द्ध मे राग-निवृत्तिका प्रथम साधन सङ्गत्याग, जोकि नल बन्द करने के समान है, कहा जायेगा—

रागान्धो नैव पश्येदचिरमुपलमद् दुःखदावौघसङ्घां-
स्तत्रायं को वराकः स्फुरितुमलमहो दीपकामो विवेकः।
तस्माद्रागोरुपाशे पतनपरवशत्वात्पुरस्ताद्यतध्वं
सङ्गत्यागे त्वमीषामयिविबुधवराः शक्यते चेत्तरां वाम् ॥३॥

जब कि रागान्ध पुरुष शीघ्र प्राप्त होनेवाले दुःखरूपी दावा नलके समूहोको भी नहीं देख सकता तब उसके चित्त में दीप शिखा के समान अति दुर्बल विवेकको अवकाश कैसे मिल सकता है। अर्थात् विवेकोत्पत्ति मे राग प्रतिबन्धक है और प्रतिबन्धक हीन साधनानुष्ठान कार्यसिद्धि का हेतु होता है, इस लिये विवेकोत्पत्तिके साधनका विधान करने से पहले प्रतिबन्धकीभूत राग का परिहार करनेकी आवश्यकता है। अब वह राग कैसे दूर हो यह बात श्लोकके उत्तरार्द्ध से कहते हैं, क्योंकि राग के होते हुए विवेक की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये हे बुद्धिमान् पुरुषो! इस रागात्मक विशाल जाल मे फंसने से पूर्व इन रागान्ध पुरुषोके सङ्ग त्याग के लिये प्रयत्न करो ॥३॥

पहले चित्त-सरको खाली करनेके दो उपाय बतलाये गयेथे— एक नल बन्द करने के सदृश कुसङ्गत्याग, और दूसरा पात्रसे बाहिर जल फेंकनेके समान विषयदोषदर्शन आदि। उन दोनोमें कुसङ्गत्यागरूप साधन गत श्लोकमें कह चुके हैं। अब यद्यपि दूसरा साधन कहने का अवसर था परन्तु उसे न कह कर उससे पहले साधकों को तिरस्कार वचन सुनाकर उत्तेजित करना अच्छा है, जिससेकि वे आगे बताये जाने वाले साधनके अनुष्ठान मे अत्यन्त उत्साह के साथ प्रवृत्त हों। जिस प्रकार लाठी या पत्थर के आघात से सर्प उत्तेजित होकर फन उठाता है वैसे ही अपने लिये अयोग्य वाक्य सुनकर साधकोंका प्रोत्साहित होना अत्यन्त सम्भव है।

जानन्नप्येष जन्तुर्विषयपरिणतिं नीरसां भूरिदुःखां
ज्ञानं नैषाम भीप्सत्यहह परिचितेः प्राणनप्राणतोऽपि ।
वाच्यं किं पामराणामधिगतपरमार्थेष्वनेकेषु सत्सु ।
सेयं देदीप्यमाना जगति विजयते वैष्णवी मोहमाया ॥४॥

यह प्राणी विषयभोगके परिणामको अत्यन्त फीका और दु खमय जानता हुआ भी विषयों मे इतना अनुरक्त है कि उन्हें भोगते भोगते प्राण त्याग करनेको भी तैयार रहता है परन्तु उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। यह दशा अपठित मूर्ख पुरुषो की ही नहीं है, प्रत्युत जो शास्त्रज्ञ और अपनेको पण्डित मानने वाले हैं वे भी इसी मोह जाल मे फसे हुए देखे जाते हैं।

भाव यह है पतङ्ग दीपशिखामें गिरकर भस्म हो जाता है, परन्तु गिरने से पूर्व उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि दीपक उसे भस्म कर देगा। इसी प्रकार मत्स्य मास खाकर अपने आप को जाल में फँसा लेता है, परन्तु वह भी इस बात को नहीं जानता कि मासभक्षण उसके जालमें फंसनेका हेतु है। ये दोनों प्राणी अज्ञानके कारण ही मृत्युके मुख मे प्रवेश करते हैं। परन्तु यह मनुष्य ऐसा विचित्र जीव है, जो जानता हुआ भी दु ख से बचने का यत्न नहीं करता उलटा उस मे गिरने को तैयार रहता है। इस लिये यह मत्स्य और पतङ्गादि की अपेक्षा भी अत्यन्त निकृष्ट है। धिक्कार है इस के मनुष्यत्व को और न्यक्कार है इसकी बुद्धि को ॥४॥

इस प्रकार तिरस्कार-वचन सुनकर जब साधक लात खाये हुए सर्प के समान प्रोत्साहित होकर साधनानुष्ठानके लिये प्रस्तुत हुआ तो उसके प्रति अग्रिम श्लोक मे चित्त-प्रबोधन-रूप साधन का उपदेश करते हैं:—

कायं हन्ताभिलापोऽचलदमृतपदे सर्ववैराग्यसाध्ये
क्वेदं चात्यन्तगर्ह्यं विषयविषरसे पानलौल्यं मनस्ते;।
कस्मादेवं विरोधे सति समधिगते-चेष्टमानं सदा त्वं
मन्दाचं मन्द नायास्यधमपथमिहाश्रित्य यायात् क उच्चैः॥५॥

ऐ मेरे चित्त ! बड़े खेदका विषय है कि इच्छा तो तुम उस अचल और अमृत पदकी रखते हो जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके विषयों मे वैराग्य होनेसे प्राप्त हो सकता है और प्रवृत्ति तुम्हारी अत्यन्त निन्दनीय विषयरूपी विषमय रसके पीने मे हो रही है। इस प्रकारका विरोध जानते हुए भी ऐसी विपरीत चेष्टा करनेमे तुमको लज्जा नहीं आती ? क्या तुम नहीं जानते कि अधम मार्गमें चलनेसे किसीको उच्च स्थानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये निकृष्ट चेष्टा छोड़कर विषय-त्याग-रूप सत्पथ का आश्रय लो जिस से तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो ॥ ५ ॥

संखिया खानेसे मनुष्य -दो प्रकार हट सकता है। एक तो संखिया खाने वाले पुरुषकी दुर्दशाको अपने नेत्रोसे देखने पर दूसरे किसी अत्यन्त श्रद्धेय आप्त पुरुषके वचनों द्वारा संखियामे अनिष्टकरत्वबुद्धि होनेसे। इसी प्रकार विषयोंसे निवृत्तिके भी दो-

ही उपाय हैं। पहला भोगलिप्सु जनोंकी दुर्दशाका दर्शन और दूसरा विषयभोगमें अनर्थकरत्व निश्चय। उन दोनोमेंसे पहले अगले श्लोकसे भोगी पुरुषोंकी दुर्दशा वर्णन की जाती है:—

कामान् वामानवाप्तुं सततमभिलषन्नैति चेतोऽपि तोषं
शोषं कायोऽप्ययासीदहह परितपन् भोगयोग्यत्वमौज्झत्।
सोऽयं हन्तान्तराले विलुलित उडुपे वायुवेगेन सिन्धा-
वासीनो यद्वदेवं करुणमभिलपन् वेपते भोगलिप्सुः ॥६॥

एक ओर तो चित्त विषयभोगकी कामनाको नहीं छोड़ता और दूसरी ओर भोगका साधनीभूत शरीर रोगोंसे कृश होकर भोग करनेमें असमर्थ हो गया। इस प्रकार द्विविधामें फँसा हुआ भोगी दीनतापूर्वक रोदन करता हुआ ऐसे दुःखी होता है जैसे समुद्रके मध्य भागमें फँसी हुई तथा वायुके वेगसे डूबनेको तैयार हुई एक छोटी सी नौकामें बैठा हुआ कोई पथिक दुःखसे कातर हो जाता है॥ ६॥

इस प्रकार विषयी पुरुषों की दुर्दशा कहकर अब आगेके चार श्लोकोंसे अनिष्टसाधनत्वरूप दूसरा उपाय कहा जाता है।

हा हा हन्तोरुरागो दहति वपुरिदं प्रेयसो विप्रयोगे,
संयोगे त्वागमोत्थामपि विमलदशां कम्पयँल्लुम्पतीव।
एवं दुःखैकहेतोरयि शुभधिषणाः काम भोगोरुरागा-
न्नागादस्माददभ्रोत्कटगरलभयात्त्रस्यतस्वास्थ्यहेतोः ॥७॥

यह राग केवल दुःखका ही हेतु है, क्योंकि विषय न मिलनेपर यह शोक और चिन्तादि उत्पन्न करके शरीरको नष्ट कर देता है और विषय प्राप्त होनेपर शास्त्रपर्यालोचनसे उत्पन्न हुई विवेक-दृष्टि को लुप्तप्राय कर डालता है। इसलिये हे निर्मल बुद्धियुक्त मुमुक्षु पुरुषो ! तुम अपने कल्याणके लिये दुःखमात्रके हेतुभूत अचिकित्स्य और भयंकर विषसे भरे हुए इस विषयभोगासक्ति-रूप सर्पमे सदा बचते ही रहो ॥ ७ ॥

यत्पूर्वं त्वमृतेन तुल्यमभवच्छ्रेयोऽद्भुतं वस्तु मे,
कस्मात्तत्त्वगतेऽपि दीर्घसमये क्ष्वेडायते सम्प्रति ।
स्वप्नोऽयं किमिवेन्द्रजालमथवा मोहोऽथवा मामको,
ज्ञातं भो ननु मायिकस्य जगतो रूपं चलं न स्थिरम् ॥८॥

जो वस्तु पहले मुझे अमृतके समान प्रिय थी वही कुछ ही समयमें न जाने विषके समान क्यों प्रतीत होने लगी है। क्या स्वप्न है अथवा इन्द्रजाल है या मेरा ही भ्रम है। नहीं, यह सब कुछ नहीं है, किन्तु इस मायिक संसारका स्वरूप ही चञ्चल है, स्थिर नहीं है। यहां प्रत्येक वस्तु कुछ कालतक सुख देकर अन्तमें नष्ट होने वाली ही है। अर्थात् जिस प्रकार देवदत्त नामक कोई पुरुष विदेश मे जाने से पूर्व अपना कोई बहुमूल्य रत्न यज्ञदत्तके पास धरोहर रखकर चला जाय तो यज्ञदत्तको उस रत्नमे कोई राग नहीं होता, क्योंकि उसे निश्चय है कि देवदत्तके आने पर यह रत्न देना पड़ेगा। यदि देवदत्त अपना अधिकार सर्वथा त्यागकर-

परमात्मा भी विमुख है। इसलिये भाई विवेक ! तुम ही शीघ्र आकर वैराग्यपूर्ण वचनों से इनको धैर्य प्रदान करो ॥१०॥

जैसे किसी घरमें आग लग जानेपर उसे जल आदि डालकर बुझाना आरम्भ करते हैं परन्तु प्रायः ऐसा देखने में आता है कि ऊपर से अग्नि शान्त जैसी दिखाई पड़ने पर भी नीचे जलता ही रहता है और यह तब जान पड़ता है जब ऊपर फेंका हुआ जल हवा लगकर सूख जानेसे अग्नि की ज्वालायें ऊपर दिखलाई पड़ने लगें। इसी प्रकार यहां भी जब चित्तरूपी प्रासाद में रागानल धधकने लगता है तो उसे चित्त प्रबोधन, विषयदोषदर्शन एवं रागिदुर्दशानिरीक्षण रूप जलप्रक्षेप से शान्त करना आरम्भ करने पर वह ऊपर से शान्त-सा प्रतीत होनेपर भी भीतर ही भीतर सुलगता रहता है। यह बात तब मालूम होती है जबकि विषयसंयोग होनेपर वह राग अपना विकराल रूप धारणकर बाहिर प्रकट होता है। इसलिये ऐसी अवस्थामें मुमुक्षु को चाहिये कि वह रागकी निवृत्तिके भ्रम से पूर्वोक्त साधनोके अनुष्ठानका त्याग न करे, किन्तु जबतक रागाग्नि सर्वथा बुझ न जाय तबतक उनका अनुष्ठान निरालस्य होकर पूर्ववत् करता ही रहे। यही बात अग्रिम दो श्लोकोंसे कही जाती है:—

पूर्वं यः सुप्त आसीन्मम हृदयबिले रागनामा भुजङ्गः
सोऽयं सद्यो व्यजागर्विषमविषमयः प्रेयसः संप्रयोगे।
हा हा दष्टोऽस्मि दष्टः पतति वपुरिदं घूर्णते मानसं मे
कष्टं भोः सर्वमेतत्सपदि सम भवच्छून्यमन्तर्वियोगे॥ ११॥

विषम विष से भरा हुआ राग नामका सर्प जो पहले मेरे हृदयरूप बिल में सोया पड़ा था अब विषयप्राप्तिरूप पादाघात से झट जाग पड़ा है। इसके काटनेसे मेरा शरीर गिरा ही जाता है और चित्त में भी बेचैनी बढ़ने लगी है। परन्तु आश्चर्य है कि विषय का वियोग होते ही ये सब बातें स्वप्नमें देखे हुये पदार्थोंकी तरह भीतरसे सार हीन हो गयी हैं ॥ ११ ॥

ज्ञात्वा सत्यं च सारं पुनरपि यदहो चेष्टसेऽसारहेतोः
चेतोऽद्य किं तवाभूदहह कथय मे वञ्चितं केन बन्धो।
सिन्धोः सन्तारणे मे व्यवमितमधुना मध्यमानीय तूर्णं
चूर्णं वाञ्छस्यकस्माच्छमविरतिमुखायाः किमेतत्सुनावः
॥ १२ ॥

रे चित्त ! इस संसार मे सत्य और सार वस्तुको जानकर भी तुम असार और मिथ्या वस्तुओंके लिये ही चेष्टा करते हो। तुमको क्या हो गया है ? क्या किसीने तुम्हें ठग लिया है। तुम पहले मुझे संसार-सागरसे पार करनेके लिये तैयार होकर फिर इस सागरके मध्यमें लाकर क्या अकस्मात् ही इस शमदम-वैराग्यादिरूप सुन्दर नौकाको चूर्ण करना चाहते हो ? तात्पर्य यह है कि ऐसा करना उचित नहीं है। हमें धैर्य धारण कर इस समुद्र से पार होने दो, नहीं तो हम और तुम दोनों ही जलमग्न होकर नष्ट हो जायँगे ॥ १२ ॥

अनादि कालसे संसार की ओर ही प्रवृत्त रहने के कारण

यह रत्न यज्ञदत्तको दान कर जाता तो अवश्य यज्ञदत्त का उसमें राग हो जाता, क्योंकि तब उसका यह निश्चय होता कि रत्न अब उसके पास से नहीं जायगा। इसी प्रकार यदि इस संसारके विषय तुम्हारे पास रहने वाले होते तो उन में राग करना किसी प्रकार उचित भी हो सकता था। परन्तु जब वे अवश्य नष्ट हो ही जावेंगे तो उन में कदापि राग नहीं रखना चाहिये।

जिस प्रकार कोई पुरुष नीम के पत्ते चबाकर फिर गुड़ अथवा कोई दूसरी मीठी चीज़ खाय तो उसे पहले उन गुड़ आदि का माधुर्य प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार राग यद्यपि दुःखदायी होता है तथापि प्राथमिक सुख संस्कारोंके कारण वह दुःख पूर्णतया भान नहीं होता। जिस प्रकार कटुता के संस्कार माधुर्यकी प्रतीति में प्रतिबन्धक थे उसी प्रकार यहां समझना चाहिये। इसलिये ऐसे सर्वदा दुःखकारी रागसे दूर रहना प्रत्येक कल्याण-कामी पुरुषका धर्म है। यही बात अग्रिम श्लोक में कही जाती है:—

रागो रागत्वयुक्तः सुखयति हृदयं कालमत्राल्पमेव,
क्लिश्नात्यङ्गं तु तत्राप्यथ न सुखवशान्मन्यते क्लेश एषः।
द्वेषत्वं प्राप्य सोऽयं सपदि पुनरहो कृन्ततिस्वान्तखण्डं,
हा हा चण्डं तथापि त्यजति न तमहो पापमेतन्मनो मे ॥९

राग रागरूपसे थोड़े ही समय हृदय को सुखी करता है। परन्तु उस कालमें भी शरीर को तो दुःख पहुँचाता ही है; तथापि सुखके संस्कारोंके कारण वह क्लेश प्रतीत नहीं होता है। फिर

यह शीघ्र ही द्वेषका रूप धारण करके हृदयका छेदन करता है। ऐसे इस दुष्टको समझकर भी मेरा पापी मन उसका त्याग नहीं करता। तात्पर्य यह है कि रागका तो त्याग ही करना चाहिये ॥९॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने प्रिय पुत्र अथवा स्त्रीके मर जानेसे अत्यन्त विह्वल होकर रोने लगता है और स्वयं भी मरने के लिये उद्यत हो जाता है तथा उसके दूसरे ज्ञातिवर्ग के मनुष्य एकत्रित होकर उसको संसारकी असारता दिखलाते हुए वैराग्य उत्पन्न करने वाले वाक्यों से आश्वासन देते हैं। इसी प्रकार विषय सम्बन्ध के नष्ट हो जानेपर जब इन्द्रियां विह्वल हो जाती हैं तो उन्हें भी विवेक-वैराग्य द्वारा ही शान्त किया जाता है। इसलिये प्रत्येक पुरुष को विषम समयमें सहायता करने वाले सच्चे मित्र के समान विवेक और वैराग्यका सम्पादन करना चाहिये। यह उपदेश अगले पद्य में किया जाता है:—

संयोगः प्रेयसो मे मरणमुपगतः कामभूमिं श्मशानं,
कृत्वा रागे चिताग्नौ ज्वलति मम पुरस्ताद्रुदन्तीन्द्रियाणि।
कस्त्राता स्यादमीषां विधिरपि विमुखो रागिणां रक्षणेऽद्य,
सद्यो भ्रातर्विवेकाग्रज विरतिवचोभिः समाश्वासयैतान् ॥१०

विषयके साथ जो संयोग था वह आज मृत्यु को प्राप्त हो गया और अन्तःकरणरूप श्मशानभूमिमें रागात्मक चिताग्नि प्रज्वलित होने लगी। यह देखकर इन्द्रियां विह्वल होकर रोने लगीं। इनकी रक्षा अब कौन कर सकता है। रागियोंकी रक्षा करनेसे तो

परमात्मा भी विमुख है। इसलिये भाई विवेक ! तुम ही शीघ्र आकर वैराग्यपूर्ण वचनों से इनको धैर्य प्रदान करो ॥१०॥

जैसे किसी घरमें आग लग जानेपर उसे जल आदि डालकर बुझाना आरम्भ करते हैं परन्तु प्रायः ऐसा देखने में आता है कि ऊपर से अग्नि शान्त जैसी दिखाई पड़ने पर भी नीचे जलता ही रहता है और यह तब जान पड़ता है जब ऊपर फेंका हुआ जल हवा लगकर सूख जानेसे अग्नि की ज्वालायें ऊपर दिखलाई पड़ने लगें। इसी प्रकार यहां भी जब चित्तरूपी प्रासाद में रागानल धधकने लगता है तो उसे चित्त प्रबोधन, विषयदोष-दर्शन एवं रागिदुर्दशानिरीक्षण रूप जलप्रक्षेप से शान्त करना आरम्भ करने पर यह ऊपर से शान्त-सा प्रतीत होनेपर भी भीतर ही भीतर सुलगता रहता है। यह बात तब मालूम होती है जबकि विषयसंयोग होनेपर यह राग अपना विकराल रूप धारणकर बाहिर प्रकट होता है। इसलिये ऐसी अवस्थामें मुमुक्षु को चाहिये कि वह रागकी निवृत्तिके भ्रम से पूर्वोक्त साधनोंके अनुष्ठानका त्याग न करे, किन्तु जबतक रागाग्नि सर्वथा बुझ न जाय तबतक उनका अनुष्ठान निरालस्य होकर पूर्ववत् करता ही रहे। यही बात अग्रिम दो श्लोकोंसे कही जाती है:—

पूर्वं यः सुप्त आसीन्मम हृदयबिले रागनामा भुजङ्गः
सोऽयं सद्यो व्यजागर्विषमविषमयः प्रेयसः संप्रयोगे।
हा हा दष्टोऽस्मि दष्टः पतति वपुरिदं घूर्णते मानसं मे
कष्टं भोः सर्वमेतत्सपदि सम भवच्छून्यमन्तर्वियोगे॥ ११॥

विषम विष से भरा हुआ राग नामका सर्प जो पहले मेरे हृदयरूप बिल मे सोया पड़ा था अब विषयप्राप्तिरूप पादाघात से झट जाग पड़ा है। इसके काटनेसे मेरा शरीर गिरा ही जाता है और चित्त में भी बेचैनी बढ़ने लगी है। परन्तु आश्चर्य है कि विषय का वियोग होते ही ये सब बातें स्वप्नमे देखे हुये पदार्थोंकी तरह भीतरसे सार हीन हो गयी हैं॥ ११॥

ज्ञात्वा मर्त्यं च सारं पुनरपि यदहो चेष्टसेऽसारहेतोः
चेतोऽद्यः किं तवाभूदहह कथय मे वञ्चितं केन वन्धो।
सिन्धोः सन्तारणे मे व्यवसितमधुना मध्यमानीय तूर्णं
चूर्णं वाञ्छस्यकस्माच्छमविरतिसुखायाः किमेतत्सुनावः
॥ १२॥

रे चित्त! इस संसार मे सत्य और सार वस्तुको जानकर भी तुम असार और मिथ्या वस्तुओंके लिये ही चेष्टा करते हो। तुमको क्या हो गया है? क्या किसीने तुम्हें ठग लिया है। तुम पहले मुझे संसार-सागरसे पार करनेके लिये तैयार होकर फिर इस सागरके मध्यमें लाकर क्या अकस्मात् ही इस शमदम-वैराग्यादिरूप सुन्दर नौकाको चूर्ण करना चाहते हो? तात्पर्य यह है कि ऐसा करना उचित नहीं है। हमे धैर्य धारण कर इस समुद्र से पार होने दो, नहीं तो हम और तुम दोनों ही जलमग्न होकर नष्ट हो जायँगे॥ १२॥

अनादि कालसे संसार की ओर ही प्रवृत्त रहने के कारण

चित्तमें विषयों का राग उसके स्वभावभूत धर्मके समान दुर्निवार्य होगया है यही बात अगले श्लोकमें कही जाती है—

हा हा श्रान्तोऽस्मि चेतस्तव विविधवचोभिः समाश्वासनेऽस्मिन्,
क्षामः कण्ठो मदीयश्चिरमभिलपनात्कुण्ठितं प्रज्ञयाऽपि ।
त्वं तु स्वीयं न शाठ्यं त्यजसि कथमपि प्रेमतो बोध्यमानं
केनेत्थं पाठितं भो अपि हितवचने नैव विश्वासमेषि ॥१३॥

हे चित्त ? नाना प्रकारके उपदेशोंद्वारा तुम्हारे समझाने मे मैं तो थक गया हूँ। बहुत समयतक बोलनेके कारण मेरा कण्ठ भी थकने लगा है और अब बुद्धि भी कुण्ठित होगयी है। परन्तु तुम तो प्रेमपूर्वक समझानेसें भी किसी प्रकार अपनी शठता नहीं छोड़ते हो। न जाने किसने तुमको ऐसी शिक्षा दी है, जिसके कारण तुम हितकर वचनो मे भी विश्वास नहीं करते हो।

भाव यह है कि जैसे गङ्गाजी का प्रवाह अनादि कालसे समुद्र की ओर ही बहता चला आ रहा है और इसीसे वह इस प्रकार स्वभावभूत हो गया है कि उसका परिवर्तन करना असम्भव-सा हो रहा है, फिर भी यदि ठीक युक्ति और पूर्ण परिश्रमसे कार्य किया जाय तो उस प्रवाह का परिवर्तन होना एक साधारण विषय हो जाता है। बड़ी २ नदियोंका नहरोके रूपमे आ जाना इसी बात को प्रमाणित करता है। इसी प्रकार दीर्घ-काल की स्थितिके

कारण विपयोन्मुख प्रवृत्ति यद्यपि चित्त का स्वभावभूत धर्म ही होगया है, तथापि सही मार्गसे पूर्णपरिश्रम के साथ चलनेपर उस प्रवृत्ति को बदला जा सकता है। इस लिये मुमुक्षु को कभी भी हताश नहीं होना चाहिये। प्रत्युत पूर्ण उत्साह के साथ उद्योग करते रहना चाहिये ॥१३॥

यदि कोई कहे कि ऐसे ढीठ चित्तको समझानेसे क्या लाभ है जो समझानेसे भी अपनी शठताको नहीं त्यागता तो इसका उत्तर आगे के पद्य मे देते हैं—

कण्ठे कलङ्कवलितो यदि नीलकण्ठो
वैकुण्ठवत्समपि गुण्ठति चेत् कलङ्कः।
प्रत्यक्ष एव सकलङ्कतया शशाङ्कः
शङ्के कलङ्कविकलस्तु न कोऽपि रङ्कः ॥१४॥

भगवान् शङ्करके कण्ठमे विषपानकी सूचना देनेवाला नीला-चिह्न है। भगवान् विष्णुके भी वक्षस्थलमें श्रीवत्स नामक अङ्क है। चन्द्रमामे तो प्रत्यक्ष ही कलक दिखायी देता है। इसलिये यह बात निश्चित है कि कलङ्क रहित वस्तु ससार मे कोई नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जैसे मल-मूत्रादि से लिथडे हुए रत्न का, अशुद्धत्वरूप दोषयुक्त होनेपर भी, कोई त्याग नहीं करता, क्योंकि उससे प्राप्त द्रव्यके द्वारा अनेको सांसारिक कार्योंकी सिद्धि होती है, इसी प्रकार शिव और विष्णुका भी कोई त्याग नहीं करता

भले ही वे दोषयुक्त भी हैं, क्योंकि उनकी उपासना करनेसे पुरुष जन्मजरामरणादि सन्तापों से मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त कर लेता है। तथा कलङ्कयुक्त होते हुए भी सन्तापशान्ति का हेतु होनेके कारण चन्द्रमाका कोई त्याग नहीं करता। इसी प्रकार यद्यपि चित्त अत्यन्त शठ है, वह सामान्यतया समझाने से अपनी पुरानी दुष्प्रवृत्तिका परित्याग भी नहीं करता, तथापि उसकी अवहेलना करना उचित नहीं है, क्योकि उसीके शोधनसे जीव की मुक्ति हो सकती है। यदि हम विषयासक्त चित्तका तिरस्कार कर उसको विषयोंसे विरक्त नहीं करेंगे तो सर्वदा जन्म-मरण की शृङ्खलामें बंधे ही रहेंगे। इसलिये दोषयुक्त होनेपर भी हम को चित्तकी उपेक्षा न करके उसके दोषकी निवृत्तिका उपाय करते रहना चाहिये ॥१४॥

अस्तु, अब ऐसी जिज्ञासा होनेपर कि चित्तके दोषको दूर करनेका क्या उपाय है पूर्वोक्त विषयदोषदर्शन आदि साधनों का अग्रिम श्लोक से स्मरण कराते हैं—

येर्येरत्राभिषङ्गो जगति कृतचरः पामरैर्भोगलिप्सै-
स्तैस्तैः पश्चादतापिप्रचुरमिहशिरो धूनयद्भिश्चिराय।
साक्षात्कृत्याऽप्यसारं विषयमलमिदं मोक्तुमेवेच्छसि त्वं
हा हा चित्रं त्वदीयं चरितमिदमहो चित्त ते किं ब्रवाणि ॥१५॥

जिस २ भोगलिप्सु मनुष्यने इन सांसारिक विषयोंमें आसक्ति की, उसी उसी को पीछे शिर पटक पटक कर रोना

पड़ा। हे चित्त ! विषयों को इस प्रकार साररहित जानते हुए भी यदि तुम उनके भोगकी इच्छा करते हो तो तुम अतिनीच हो। इस से अधिक तुम को और क्या कहा जाय ?

भाव यह है कि साम दान भेद और दण्ड इन चार उपायों-द्वारा ही कोई बात किसी पुरुष को अङ्गीकार करायी जा सकती है। जो पुरुष साम दान और भेद इन तीन उपायों से अपना कथन अङ्गीकार न करे उस को फिर दण्ड नामक चतुर्थ उपायसे ही समझाया जाता है। दण्ड का प्रयोग भी यदि विफल हो जाय तो फिर वह पुरुष हेय हो जाता है, क्योंकि फिर उसे किसी भी प्रकार नहीं समझाया जा सकता। सो गत श्लोकोंमें भी यद्यपि चित्तप्रबोधन ही किया गया है, परन्तु वह साम नामक प्रथम उपाय द्वारा ही किया है। इस श्लोकमें 'तुम्हारा चरित विचित्र है अर्थात् अति तुच्छ है जो वस्तु का दोष देखते हुए भी उसका त्याग नहीं करते हो, इस कटुवाक्य रूप वाग्दण्डका प्रयोग किया गया, जिस से चित्त अवश्य समझ सकता है। बार-बार उन्हीं उपायों का कथन करना सिद्ध करता है कि रागनिवृत्ति के लिये पूर्वोक्त साधनोंसे भिन्न कोई और साधन नहीं है। इस लिये मुमुक्षुको उत्साहपूर्वक उन्हींका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १५ ॥

जिस प्रकार आन्तर और बाह्य भेदसे मल दो प्रकार का है इसी प्रकार आन्तर मल भी सूक्ष्म और स्थूल भेदसे दो प्रकारका है। स्थूल वह है, जिस की निवृत्ति का उपाय पहले कहा गया है। सूक्ष्मका वर्णन आगामी श्लोक में किया जाता है:—

मोघास्ते ते क्रियौघाः सपदि शममगुः स्वान्तराज्यान्यमूनि
शून्यान्यासन्समन्तात्तदपि तदुदिता लेशका ये मनस्थाः ।
चेतस्तेऽस्वस्थयन्ति प्रति घटिकमहो कोऽपराधोऽस्य जन्तोः
सन्तोऽत्र स्युः प्रमाणं किमिह बहुविदां वक्तुमर्हाम एते
॥ १६ ॥

तूने सुखकी प्राप्तिके लिये जिन जिन क्रियाओंका आरम्भ किया था वे सब विफल रहीं। चित्तके मनोरथ भी सब निष्फल हो गये। परन्तु चित्त में पड़े हुए उनके संस्कार प्रतिक्षण उसे खिन्न किया करते हैं। यह प्राणियोंके किस अपराधका फल है? इस में विद्वत्समुदाय ही प्रमाण है। पण्डितोंके सामने हम बहुत क्या कहें?

यदि किसी घड़े को घृत से भरकर अधिक समय तक रक्खा जाय तो पीछे उसमें से घृत निकाल लेने पर भी सूक्ष्मरूप से कुछ लगा रह ही जाता है। इसी तरह दीर्घकाल तक विषयभोग करनेसे चित्तमें रागांश बहुत बढ़ जाता है। और फिर चित्तप्रबोधनादि उपायोंद्वारा स्थूल राग के निवृत्त हो जाने पर भी सूक्ष्म राग तो शेष रह ही जाता है। इस लिये साधकों को उचित है कि केवल स्थूल रागकी निवृत्तिमात्रसे अपने को कृतकृत्य न मान बैठें किन्तु रागके संस्कारोंकी निवृत्ति होने तक — --त्ते रहें ॥ १६ ॥

आगे के दो श्लोकोंसे सूक्ष्म रागकी निवृत्तिका उपायभूत आत्मज्ञान कहा जाता है:—

कस्माद्रोदीत्यमन्तस्त्वमसि सममिदं नत्वदन्यत्तुकिंचित्
त्वं चानन्दैकसीमा तवलवमुपयान्नन्दितं भूतजातम्।
पश्य त्वं वैभवं स्वं चितिनिमलतनुः सर्वभूतेश्वरोऽसि
रोदिष्यद्यापि कस्माद्विभुरभवमृतिः किं तवानाप्तमस्ति॥१७

हे जिज्ञासुवर्ग ! तुम अपने चित्तमें इतने दुःखी क्यों हो ? क्योंकि यह सारा संसार तुम्हारा ही स्वरूप है, तुम से भिन्न यह कोई वस्तु नहीं है। निःसीम आनन्द ही तुम्हारा स्वरूप है। तुम्हारे स्वरूपानन्दके ही एक-एक बिन्दु को लेकर समस्त प्राणि अपने को आनन्दित मान रहे हैं। तुम अपने स्वरूप को अनुभव करो शुद्ध चैतन्य ही तुम्हारा रूप है। तुम्ही सम्पूर्ण प्राणिवर्ग के नियन्ता भी हो। रोते क्यों हो ? तुम विभु और जन्म-मरणसे रहित हो और आप्तकाम होने के कारण कोई भी वस्तु तुम को अप्राप्त नहीं है॥ १७॥

शुद्धं शान्तं स्वरूपं तवगगननिभं कोमलं कोमलानां
तेजः पुञ्जोरुतेजा व्यवधिरसमयं सर्वतः सम्प्रसन्नम्।
मुक्त्वा किं वल्गसीहाजरममरमिदं दुःखभूयिष्ठलोके
शोके कस्मान्निमग्नोऽस्यपि सकलजगद् भावयानन्दरूपम्॥१८

आकाशके समान शुद्ध तथा शान्त, सबसे कोमल, तेजोमय, सूर्यादिको का प्रकाशन करने वाला, अनन्त आनन्दमय, अविद्या-कामक्रोधादि सकल मलसे रहित तथामृत्यु आदि संसारधर्मों से रहित जो अपना स्वरूप है उसे छोड़कर इस दुःखमय संसारमें क्यों आसक्त हो और किस कारणसे शोकमें डूबे हुए हो। सम्पूर्ण जगतको आनन्दमय और आत्मस्वरूप समझ कर सुखपूर्वक विचरो।

भाव यह है कि जैसे सहस्र रुपयोंकी अभिलाषा रखने वाला पुरुष अपनी इच्छाका त्याग तब ही कर सकता है जब कि उसे लाख रुपये मिल जायँ अथवा मिलनेकी आशा हो जाय इसी प्रकार वैषयिक सुखोपभोग में राग की निवृत्ति तभी हो सक्ती है जब पुरुषको वैषयिक सुख की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त हो अथवा प्राप्त होने का दृढ़ निश्चय हो जाय। सो परमानन्दको जब आत्मासे अभिन्न कहा तो अब उसकी प्राप्तिमें कुछ सन्देह नहीं रह सकता, क्योंकि आत्मा किसी को अप्राप्त नहीं है। इस लिये आत्मासे अभिन्न निरतिशय सुख भी किसीको अप्राप्त नहीं हो सकता॥ १८॥

यदि आत्मा निरतिशय आनन्दस्वरूप है और वह सदा प्राप्त ही है तो जीव अपनेको सर्वदा आनन्दयुक्त प्रतीत क्यों नहीं करता, इस प्रश्न का उत्तर आगे के पद्य से देते हैं:—

सद्यो बुध्यस्व बन्धो हृदि वियति तवा ऽऽयादुदग्राभ्रमाला मोहाख्या श्यामलाऽऽलादिपमहह यलाद्भानुमन्तं विवेकम्।

ज्वालेयं वैद्युतीह स्फुरति मुनिशिता रागनाम्नी विशाला
यावद्वर्षेन्न हालाहलमियमधुनाक्रोधकामाद्यनन्तम् ॥ १६ ॥

मुमुक्षुओ ! देखो तुम्हारे हृदयरूपी आकाश मे महाभयङ्कर अज्ञाननामकी काली घटा छा गयी है, जिस के कारण से हृदयाकाश मे देदीप्यमान विवेकरूप सूर्य लुप्तप्राय हो गया है और राग नामवाली अत्यन्त तीक्ष्ण विद्युतकी ज्वाला चमक रही है। सो जबतक यह काम क्रोध आदि दुर्जर विष की वर्षा न करे तब तक ही तुम सचेत हो जाओ, क्योंकि हालाहल की वृष्टि हो जाने पर तो फिर जगना असम्भव है।

भाव यह है कि जिस प्रकार मध्याह्नकालीन सूर्य आकाशमण्डलमें देदीप्यमान होता हुआ भी जिस पुरुष के नेत्र घनावलिसे आवृत है उसे दिखलाई नहीं पडता इसी प्रकार परमानन्दस्वरूप आत्मा जीवका स्वरूपभूत होने के कारण सर्वदा प्राप्त होने पर भी जिस पुरुष की बुद्धि रूपी दृष्टि अज्ञानान्धकार से आच्छादित है उसे प्रतीत नहीं होता। जिन अधिकारियोंने गुरूपदिष्ट साधनोके अनुष्ठानसे उस मोहपटलको हटा दिया है वे ही उस परमानन्दके सागरमे अहर्निश निमग्न रहते हुए जीवन्मुक्ति का आनन्द अनुभव कर रहे हैं। इस लिये आत्मा के निरतिशयानन्दका अनुभव करनेके लिये बुद्धिरूप दृष्टि को आवृत करने वाले अज्ञानरूप आवरणको हटाना चाहिये ॥ १६ ॥

अब जिस प्रकार उस आवरण का भङ्ग हो सकता है उसे अग्रिम श्लोक मे कहते हैं।

हा हा पीयुषपूरानधिहृदयनदि ज्ञानवैराग्यरूपान्
संशोष्य क्षारकूपानयि खनसि कुतो मारमुख्यानमुत्र।
पश्यायं मूर्ध्निमृत्युर्ललति कतिपयैर्दितुं त्वां निमेषैः
सुप्तः किं मूढजन्तो व्रज विमलपथे मङ्गले मा प्रमाद्येः॥२

जिज्ञासुओ? तुम हृदयरूप नदीमें परिपूर्ण रूपसे वर्तमान ज्ञानवैराग्यादि अमृतके समान शीतल और सुमधुर जलके प्रवाहको सुखाकर उसकी जगह काम-क्रोध आदि खारे जलसे भरे हुए कुओंको क्यों खोदते हो? देखो, तुम को शीघ्र ही नष्ट करने के लिये यह मृत्यु तुम्हारे शिर के ऊपर चक्कर लगा रहा है। ऐसे संकटमय समयमें भी तुम क्यों निद्राक्रान्त होकर सोये पड़े हो। इस लिये उठो, आलस्य और प्रमादको छोड़कर कल्याणकारी मोक्षमार्ग के पथिक बनो।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य कल्याणके साधन ज्ञान और वैराग्य को त्याग कर काम क्रोधादिकोको अपने अन्तःकरणमें बसा लेता है, जिनके कारण उसे पद पदपर आपत्तियों का ही अनुभव करना पड़ता है! यदि इस के विपरीत वह काम-क्रोधकी उपेक्षा कर उनके स्थानमें ज्ञान-वैराग्यप्रभृति दैवी सम्पत्तिका सम्पादन कर ले तो उसे इस जीवनकालमें भी किसी प्रकारका शोक अथवा मोह नहीं घेर सकता और उसके परलोक-सुधारमें तो कोई सन्देह है ही नहीं। इस लिये श्रेय की इच्छा वाले प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य यही है कि पहले वह काम-क्रोधादिका तिरस्कार करके

अपने अन्तःकरण में विवेक वैराग्यादिको सञ्चित करे, जिनके द्वारा यह परमात्मदर्शनका अधिकारी बन सके ॥२०॥

चित्तमेंसे रागद्वेषादिको हटानेका उपाय पूर्वोक्त चित्त-प्रबोधन तथा विषयदोषदर्शनके अतिरिक्त और कोई नहीं है, इस लिये पूर्ण उत्साहसे उन्हीं का साधन करना चाहिये। यह बात आगामी श्लोक में स्पष्ट की जायगी।

चेतश्चेत्त्वं हि चेतो जडमिव वचनैर्मामकीनैः प्रबोधं
नायास्यद्यापि नूनं तव किमपि महत्पापमुद्भूतमस्ति।
स्वस्तिस्तात्ते व्रजामो वयमथ विपुलां भूमिकां काञ्चिदेतां
यत्र त्वं नोन चेत्यं परमतिविशदं ज्योतिरेकं समन्तात्॥२१॥

हे चित्त ! यदि तुम चेतन होते हुए भी जड़ की तरह अभी मेरे वचनोंद्वारा नहीं समझोगे तो जान लेना कि तुम्हारा कोई अति उग्र पाप उदय हो रहा है। अस्तु, तुम, अपनी इच्छानुकूल रहो हम भी उस स्थानपर जाते हैं जहां तुम तथा कोई अन्य अनात्मस्वरूप दृश्य भी नहीं है, किन्तु एक अत्यन्त निर्मल एवं विश्वव्यापी आत्मस्वरूप प्रकाश विद्यमान है। यद्यपि चित्त की उपेक्षा करके उस भूमिकापर आरूढ़ होना सर्वथा असम्भव है तथापि यहाँ चित्त की उपेक्षामें तात्पर्य नहीं है। किन्तु जिस प्रकार पिता-पुत्र दोनों ही किसी खेल या अन्य तमाशे को देखने जाएँ और वहाँ पुत्र उस खेल को देखने में इतना दत्तचित्त हो

जाय कि घर को लौटना भी न चाहे तो उसका पिता यह जानकर कि पुत्र अकेला नहीं रह सकता उससे कहे कि बेटा ! यदि तुम्हें घर नहीं चलना है तो यहीं तमाशा देखते रहो मैं तो जाता हूँ, तो वह पुत्र अकेला रहने के भय से तुरन्त ही खेलमे आसक्ति छोड देता है। इसी प्रकार चित्त को छोडकर चले जानेसे यही अभिप्राय है कि स्यात् वह इसी भयसे ससारके विषयोमे रागका त्याग कर दे, क्योंकि राग के रहते हुए कभी भी कृत्यकृत्यता नहीं हो सकती ॥२१॥

अभीतक चित्तप्रबोधन, विषयदोषदर्शन तथा विषयि-दशा निरीक्षण ये तीन उपाय ही चित्तसरोवरसे रागरूप जलको बाहिर फेकनेके लिये पूर्वोक्त पात्र स्थानीय होनेसे विस्तारहप मे कहे गये हैं। अब दूसरे उपाय भी कहते हैं।

चेतः शृणुतदन्ते परमहितमहं श्रावये सङ्ग्रहेण
सौख्यं यास्यस्यवश्यं पृथु सपदि सखे केवलं तद्ग्रहेण ।
त्यक्त्वाऽनात्माभिमानानतिविशदधियावीक्ष्यचात्मानमेकं,
पश्यच्चैवैनमन्तर्बहिरपि च जगत्स्वप्नभावेन जह्याः ॥२२॥

हे चित्त ! सावधान होकर सुनो, मैं तुमको सक्षेपसे परम हितकर वाक्य सुनाता हूँ, जिसका पालन करनेसे तुम शीघ्र ही परमानन्दको प्राप्त हो जाओगे। वह यह, कि तुम देह-गेह आदि मे अहन्त्व-ममत्वरूप अनात्माभिमानोंको त्यागकर तथा निर्मल

श्रौर सूक्ष्म बुद्धिसे एक अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार करके फिर उसी को बाहर-भीतर परिपूर्ण रूपमे अनुभव करते हुए इस जगत को स्वाप्निक पदार्थों के समान समझकर छोड़ दो।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई छोटे मुँहवाला पात्र पृथिवी में जड़ा हुआ हो और उसमें जल भरा हो तो उसे खाली करनेके लिये हम न तो उसको उलटा कर सकते हैं और न छोटा मुख होनेके कारण किसी दूसरे पात्रमे ही उसका जल बाहिर निकाल सकते हैं। परन्तु यदि उस घटमे पत्थरके छोटे-छोटे टुकड़े भर दिये जायें तो जल स्वयं ही बाहिर आ जायगा। इसी प्रकार प्रकृतमें भी अनात्म-वासनारूप जल से भरे हुए मनोघटको खाली करनेके लिये उसमें उससे विपरीत आत्म-वासनारूप पत्थर के टुकड़ोंको भर दो। ऐसा करनेसे उसके भीतर भरा हुआ जल स्वयं ही बाहर हो जायगा। फिर उसे खलाने के लिये तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा॥ २२॥

बहुत से पुरुषोंका निश्चय है कि प्रत्येक कार्य प्रारब्धके अधीन है। विना प्रारब्धके किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये जब मुक्तिके अनुकूल प्रारब्धका उदय होगा तो मोक्ष स्वयं हो जायगा। उससे पहले हज़ार प्रयत्न करनेपर भी कुछ फल नहीं होगा-इत्यादि। दूसरे लोग कहते हैं कि हम श्रेयःसाधनों का अनुष्ठान करना तो चाहते हैं परन्तु हमको सांसारिक व्यवहारोंसे अवकाश ही नहीं मिलता जिससे हम अपना मनोरथ सिद्ध कर सकें। उनके प्रति आगेके तीन श्लोकोंसे उपाय कहा जाता है :—

चेतः किं खिद्यसे त्वं लिखितमिह पुरा यद्भवेत्तेविधात्रा
भाव्यं तेनैवनूनं शुभमशुभमथो भुङ्क्ष्व भूत्वा प्रसन्नम् ।
मायामेतां समस्तामपि विदितवतस्ते न शोकोचितत्वं,
सत्त्वं भूयिष्ठमङ्गीकुरु विहर सदा स्वीयकर्मानुसारम् ॥२३॥

चित्त ! तुम इतने खिन्न क्यों होते हो । परमात्माने जो कुछ शुभ अथवा अशुभ तुम्हारे भाग्यमें लिख दिया है वही होगा । उसे तुम प्रसन्न होकर भोगो और इस सकल संसारको मायामय समझनेवाले पुरुषको शोक अथवा खेद करना उचित भी नहीं है । इसलिये धैर्य धारणकर सदा अपने भाग्यानुसार प्राप्त पदार्थसे प्रसन्न रहते हुए विचरण करो ॥ २३ ॥

दुःखान्यायान्ति सद्योजगति तनुभृतां यान्त्यकस्मात्सुखानि
तेषामन्ते सुखानि प्रकटमुपनमन्ते पुनर्दुःखवन्ति ।
जायन्ते चाथ मृत्वा मरणमुपलमन्ते जनित्वा तथाऽमी
एवं संसार वृत्तं चलमधिगतवान् खेदमोदौ भजेत्कः ॥२४॥

इस संसारमें प्रत्येक प्राणीको कभी तो दुःख घेर लेते हैं, कभी अकस्मात् ही वह बड़े सुखका भोक्ता बन जाता है । तदनन्तर फिर हठात् दुःखोंसे घिरकर वह अनन्त सुखमय जीवनका अनुभव करता है । इसी प्रकार वह कभी तो जन्म धारणकर मृत्युको प्राप्त होता है और कभी मरणके पश्चात् पुनः उत्पन्न होता है । इस प्रकार इस संसारको अहर्निश घटीयन्त्र के समान घूमनेवाला

समझकर कौन बुद्धिमान् सांसारिक पदार्थोंमें हर्ष अथवा शोकको प्राप्त होगा ॥ २४ ॥

मृत्योर्माति भयं भृदितिरहसि मनोबोधयाम्येतदेकं
मन्येथा मुक्तरेकं यदि सपदि वियायुः समेऽप्यापदस्ते ।
सत्यं प्रत्यञ्चमेकं प्रतिभुवनमवं भावयात्मानमन्त-
स्त्यक्त्वा तुच्छामनन्यद्धितमहितमिवोद्भासमानं समन्तात् ॥२५

हे मित्र ! मैं तुमको एक उपाय बतलाता हूं। यदि तुम उसे सन्देह और भ्रम छोड़कर स्वीकार कर लोगे तो तुम्हें कभी भी जन्म-मरणका भय व्याप्त नहीं होगा, भले ही सारी आपत्तियां तुम पर ही आक्रमण कर दें। वह उपाय यह है कि जो हितकर-से प्रतीत होने पर भी वस्तुतः अनर्थकर हैं ऐसे इन तुच्छ अनात्मपदार्थोंका राग छोड़कर तुम सत्य सर्वव्यापी एवं सबके साक्षिभूत अपने प्रत्यगात्माका ही मनन, चिन्तन और ध्यान किया करो।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी पुरुषके पास सहस्र रुपया है और मरने के समय अपने उस धनको उसने अपने पुत्र को, जो कि अभी शैशवावस्थामें ही है, अर्पण कर दिया है। अब वह पुत्र युवा होनेपर यदि पैतृक सम्पत्तिके बलपर अपना जीवन व्यतीत करना ठीक समझकर उस सम्पत्ति के भरोसे और नया धन पैदा करनेका कुछ उद्योग न करे तो परिणाम यह होगा कि दश या बीस वर्ष के अनन्तर अथवा उससे भी पहिले वह

भूखा मरने लगेगा। यदि वही पुरुष पैतृक धन भोगते समय अपने भावी जीवनके लिये अन्य सम्पत्ति उपार्जन कर लेता तो उसे कभी आपत्तियोंका मुँह न देखना पड़ता। इसी प्रकार प्रकृतमें भी प्रारब्ध तो पैतृक सम्पत्तिके समान अवश्य भोगनेके लिये हमारे पास विद्यमान है ही। परन्तु हमारा कर्तव्य यही है कि प्रारब्धको भोगते हुए भी भविष्यमें सुखपूर्वक रहनेके लिये अन्य उपाय भी करते रहें। नहीं तो मनुष्य शरीरको देने वाले प्रारब्धकी समाप्ति हो जाने पर हमको पश्वादि शरीरमें जाना पड़ेगा जहाँ हम कुछ नहीं कर सकेंगे। इसीलिये श्रुति भगवती उच्च स्वरसे कहती है, "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" अर्थात् यदि इस मनुष्य शरीरमें कुछ सुखप्राप्तिका उपाय कर लिया तब तो ठीक है, नहीं तो फिर अनर्थ परम्परा में ही भ्रमण करना पड़ेगा। 'अवसर नहीं मिलता' यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि सारा समय व्यवहारमें ही व्यतीत नहीं होता किन्तु अनर्थ और व्यर्थ कार्यों में ही बहुत-सा समय नष्ट किया जाता है। सिनेमा थियेटर प्रभृति अनर्थके मूलभूत तमाशोंको देखनेके लिये और ताश शतरञ्ज प्रभृति व्यर्थ खेलोंके लिये जब हम समय प्राप्त कर सकते हैं तब कोई कारण नहीं कि परमार्थ साधनोंके अनुष्ठानके लिये हमें समय न मिले। केवल उत्साहकी कमी है। उत्साह हो तो व्यवहारके समय में से भी समय निकाला जा सकता है। इस-लिये वर्तमान शरीरोपयोगी व्यवहार से अधिक व्यवहार न बढ़ाकर परमार्थ-पथमें ही प्रत्येक पुरुष को अग्रेसर होना चाहिये॥ २५॥

मुक्तिके द्वार पर पहुँचने तक मनुष्यों पर विघ्नोंका आक्रमण होता है इसलिये प्रत्येक साधकको पूर्ण उत्साह रखना चाहिये, जिससे विघ्न उसे लक्ष्य से च्युत न कर सकें। यह बात अग्रिम श्लोकमें कही जायगी:—

हा गत्वाध्वानमर्द्धं कथमपि च पुरोदृश्यमानेऽपि धाम्नि
चेतः किं मोक्षनाम्नि प्रपदभिवलसे मन्दपश्चादकस्मात्।
भुक्त्वा भोगानिहत्यान्मधुगरलयुतान्नोपमान्व्यस्मरः किं
याह्य दूर्ध्वमागमोऽधो न यदि कृतधियां हास्यतां यास्यसीह
॥ २६ ॥

हे चित्त ? परमार्थका आधा मार्ग तय कर लेने पर और मोक्षनामक परमधामके दृष्टिगोचर होनेपर भी तुम क्यों पीछे संसारकी ओर चलने लगे ? क्या मधु और विष मिले हुए अन्न के समान भोगकालमें मधुर और परिणाममें अनिष्टके करनेवाले सांसारिक विषयोंको अनुभव करके भी उनके स्वरूपको भूल गये। चलो, उन्नतिकी ओर बढ़ो। अवनतिकी ओर जाना उचित नहीं है। यदि ऐसा नहीं करोगे तो बुद्धिमान् पुरुषोंमें तुम्हारा उपहास होगा।

भाव यह है कि जिस प्रकार कोई पुरुष फल अथवा पुष्प तोड़नेके लिये वृक्षपर चढ़े और ऊपर पहुँचनेपर तत्काल ही नीचे गिर जाय तो उसका ऊपर चढ़ना व्यर्थ ही हो जाता है, यदि वह

वृक्षपर चढ़ जाता तो उसके फल फूल प्राप्त करके अपना परिश्रम सफल कर लेता। इसीप्रकार चित्त भी यदि किसी भूमिका विशेष को प्राप्त करके उसमें स्थित न हो तो वह अपने परमप्रयोजन आत्यन्तिक कृतकृत्यताका अनुभव नहीं कर सकता। इसलिये प्रत्येक साधकको अपनी अवस्था का परिपाक होने तक प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ २६ ॥

अस्तु, अपने चित्तकी अवस्थाको परिपक्व बनानेका क्या उपाय है, इसका उत्तर आगामी तीन पद्यों मे देते हैं .—

एते प्रेयोऽभिलापा अहह कथममी कोमलाङ्गेषु सङ्गा,
रूपं हा पाटलाभं मधु मधुरमिदं चाधरोपान्तलग्नम् ।
प्रासक्ता लोभयन्ते मुखकमलपुटादुत्कटामोदधारा
हाहैवं मोमुहन्तोजगतिजडधियोग्रासतां यन्तिमृत्योः ॥२७॥

प्रियतमाके वे मधुर आलाप कैसे आनन्दप्रद थे ? कोमल अङ्गोका स्पर्श कैसा लोकोत्तर सुखकी वर्षा करनेवाला था ? गुलाब के फूलोको भी तिरस्कृत करनेवाला कैसा रमणीय रूप था ? अधरोष्ठमे अतीव मधुर मधु लगा हुआ था तथा मुख कमलसे बहनेवाली उत्कट गन्धकी धाराएँ मनको किस प्रकार लुभानेवाली थीं ? इसी प्रकार मोहजालमे फँसे हुए विषयी पुरुष मृत्युके मुखमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिये मृत्युसे मुक्त होनेकी इच्छावाले पुरुषको सर्वथा विषयोका त्याग करना चाहिये ॥ २७ ॥

ज्यायस्येका बुभुक्षा विरतदनुजनुः सा द्वितीया मुमुक्षा
द्वे अप्येते भगिन्यौ मम च दुहितरावेव्यचेतोऽङ्गणे मे ।
वैरायेते तदाद्या करणगणयुतैकाकिनीयाऽकनिष्ठा
पक्षे याम्यन्ति मायास्तदिह लघुतरं दुर्बलात्वा त्रियत्वात् २८

बुभुक्षा और मुमुक्षा नामकी दो बहिनें मेरी पुत्रियाँ हैं, जिनमें बुभुक्षा बड़ी है और मुमुक्षा छोटी। ये दोनों मेरे चित्त रूप आँगन में आकर आपसमें लड़ती हैं, बुभुक्षा इन्द्रियों के सहित होनेके कारण बलवती है और मुमुक्षा छोटी तथा अकेली होने के कारण दुर्बल है। इस लिये मैं मुमुक्षा की ही सहायता करूँगा। क्योंकि यह दुर्बल और छोटी होने के कारण मुझे प्रिय है। भाव यह है कि अपने कल्याणकी कामना वाले पुरुष को भोगेच्छा (बुभुक्षा) का त्याग करके मोक्षेच्छा (मुमुक्षा) को ही बढ़ाना चाहिये ॥ २८ ॥

मोहान्धप्रविवेकचक्षुष इमे रज्यन्ति कामाकुला
लोका हा विषयेषु मामकमिदं श्रेयः सदा स्यास्यति ।
इत्येवं दृढबद्धमुग्धमतयो हृप्यन्ति कांश्चित्क्षणान्
दह्यन्तेऽस्मनल्पशोकदहने हा कस्य को विद्यते ॥ २९ ॥

अज्ञानसे विवेकरूप नेत्रके अन्धे हो जानेपर काम और रागादि से आक्रान्त पुरुष 'ये हमारे प्रिय पदार्थ सदा रहेंगे' इस

भ्रम के वशीभूत होकर विषयों में आसक्त हो जाते हैं। परन्तु कुछ ही क्षण हर्ष मानकर फिर शीघ्र ही प्रबल शोकानलसे सन्तप्त होने लगते हैं। इस संसार में कौन किस की रक्षा कर सकता है ? अर्थात् आप ही अपनी रक्षा करनेमें समर्थ है, इस लिये दूसरोंकी सहायताका भरोसा छोड़कर स्वयं पुरुषार्थ करना चाहिये।

इन तीनों श्लोकों का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्धकारकी निवृत्ति प्रकाशके द्वारा ही की जा सकती है और और गर्मी को ठंडके द्वारा ही दूर कर सकते हैं, क्यों कि, उन का ही परस्पर विरोध है, इसी प्रकार विषयों से चित्त हटाने के लिये पहले तो यह जानना आवश्यक है कि विषयों में चित्त की प्रवृत्तिका कारण क्या है। जब कारण मालूम हो जाय तो उस का विरोधी साधन ढूँढना चाहिये और तत्परतापूर्वक उसीका अनुष्ठान करना चाहिये। फिर तो चित्तको विषयो से हटाना एक साधारण-सी बात होगी। चित्त जब विषयो में प्रवृत्त होता है तो पहले उसे हितकर ही समझता है, अहितकर नहीं समझता, क्योकि जिन पदार्थोंमें इसे अनिष्ट-हेतुताका निश्चय है उनमें इसकी प्रवृत्ति कदापि नहीं होती। भला, जान-बूझकर विषयोंमें कौन प्रवृत्त होता है ? इसी प्रकार जहाँ इसे अनर्थजनकताका पूरा निश्चय नहीं होता वहाँ इसकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, जैसे पुत्र, स्त्री, और धन आदिमें। इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा हम यह निश्चय कर सकते हैं कि विषयों में चित्त की प्रवृत्तिका बीज विषयोंमें इष्टसाधनता बुद्धि होना अथवा अनिष्ट-

साधनता बुद्धि का न होना है। इस लिये उसकी प्रवृत्ति रोकनेका उपाय विषयोंमें अनर्थकरत्वबुद्धि ही हो सकती है, क्यों कि यही बुद्धि पूर्वोक्त प्रवृत्तियोंको पैदा करने वाली बुद्धियोंकी विरोधिनी है। उसका उपाय विषयी पुरुषों की दुर्दशाको देखना है, जिसका ऊपरके श्लोकों में स्पष्टतया वर्णन किया गया है। इसी बातको योगसूत्रोंके रचयिता भगवान पतञ्जलि ने भी अपने एक सूत्रमें कहा है, यथा—'विपक्षबाधने प्रतिपक्षभावनम्' अर्थात् जब साधनके विपक्षी हिंसा राग-द्वेषादि साधकके चित्तमें बाधा उत्पन्न करें, जब उसका चित्त विषयोपभोगकी ओर खिंचने लगे तो उस समय पतनसे बचने के लिये तत्प्रतिपक्षी भूत पदार्थों में अनर्थजनकता की भावना करे। ऐसा करने से उसका चित्त विषयोपभोगसे विमुख होकर निःश्रेयसके मार्गमें प्रवृत्त हो जायगा। पूर्वोक्त श्लोकमें इस उपाय की ही पूर्ण रूप-से व्याख्या की गयी है। इस लिये प्रत्येक साधकको उपर्युक्त उपायोंसे अपने कल्याण मार्गके विरोधी विघ्नों का निराकरण कर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने में तत्पर रहना चाहिये और उस के साधनों के अनुष्ठान में पूरा उत्साह रखना चाहिये ॥ २७ ॥

राग-द्वेष रूप प्रतिबन्धकोंके रहते हुए मोक्ष का हेतुभूत आत्मदर्शन होना सम्भव नहीं था सबसे पहले हमें अनेकों उपायोंद्वारा उनकी निवृत्ति का व्याख्यान करना पड़ा। अब अग्रिम श्लोकों से ज्ञानोत्पत्तिकी मुख्य सामग्री तत्त्वविचारका उपदेश किया जायगा।

किमिमा मयि दीनतामगाः,
प्रथमानोरुमहत्त्वभागपि ।
समघोहि निजं तु वैभवं,
सुखसिन्धुस्त्वमवाप्तसन्नसि ॥ ३० ॥

अयि मुमुक्षुवर्ग ! तुम स्वयं प्रकाशमान और निरतिशय महत्त्व सम्पन्न होते हुए भी क्यों इस प्रकार दीनताको प्राप्त हो रहे हो ? अपने स्वरूपका स्मरण तो करो । देखो, तुम परम आनन्दके समुद्र और जो कुछ पाना था उसे प्राप्त किये हुए हो ।

भाव यह है कि जैसे, देव और श्याम नामक दो व्यापारियों के अमूल्य रत्नों से पूर्ण दो जहाज पृथक् पृथक् महासागरोंमें यात्रा कर रहे हैं । उन में श्याम का जहाज दुर्भाग्यवश समुद्र में डूब गया । परन्तु सूचना देने वालेने भ्रमवश देवको समाचार दिया कि तुम्हारा जहाज डूब गया है । यह सुन कर देव अपनेको निर्धन हुआ समझकर, वस्तुतः वैसा न होने पर भी, अत्यन्त दीनहोकर व्याकुल हो जाता है । परन्तु कुछ काल पश्चात् देवके सेवकों का समाचार मिलता है कि उसका व्यापार अच्छी तरह चल रहा है और पहलेकी अपेक्षा दूना-तिगुना लाभ हुआ है तो यह सुनकर देव अपने पूर्वसिद्ध धनित्वका निश्चय कर दीनभाव को छोड़कर पुनः आनन्दित हो जाता है । इसी प्रकार जीव भी परमार्थतः सुख स्वरूप तथा सब प्रकारके शोकों से रहित होने पर भी किसी कारणसे अपने पारमार्थिक स्वरूपको भूलकर अपनेको

शोक, मोह, जन्म, जरा, मरण आदि धर्मों का आश्रय समझकर अत्यन्त दुःखी होने लगा है। यदि यह फिर भी अपने स्वरूपका स्मरण करे तो समस्त आधिव्याधियोंसे रहित होकर परमधामको प्राप्त हो जायगा ॥ ३० ॥

अब प्रश्न होता है कि दृष्टान्तमें तो सूचकके वाक्योंद्वारा देव को वास्तविक परिस्थितिका अज्ञान हुआ था परन्तु दार्ष्टान्तिकमें स्वरूप के विस्मरण में क्या कारण है। इस का उत्तर देनेके लिये आगे का पद्य प्रवृत्त होता है :—

ममतामभिमुञ्च भिन्नता

मपि केचित् क्षणमेकमीशते।

तव सोढुमये न संविदः,

किमहन्तामनयेन पश्यसि ॥ ३१ ॥

देह-गेह प्रभृतिमें ममताका त्याग करो। शरीर एवं इन्द्रिय आदिमें अहन्त्व बुद्धि रखना भी अन्याय्य है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप तुम्हारेमें भेद सर्वथा असम्भव है तथा अहन्ता और ममता विना भेदके हो नहीं सकती। तात्पर्य्य यह है कि यदि चोर देवदत्त की गौ चुरा ले तो यज्ञदत्तको कोई क्लेश नहीं होता क्योंकि यज्ञदत्तका उस गौमें ममत्व नहीं है परन्तु यदि देवदत्त को वह गौ दान करदे, और फिर चोर चुरा ले तो अवश्य यज्ञदत्त को दुःख होगा, क्योंकि अब उस गौमें उसकी ममता हो गयी है।

इस अन्वय-व्यतिरेकके बलसे ममत्व ही दुःख का बीज सिद्ध होता है। देहादिमें अहन्ताबुद्धि ही ममताका हेतु है, क्योंकि सुषुप्तिके समय अहन्ताका अभाव हो जानेसे ममता का अभाव भी देखा जाता है। अन्वय-व्यतिरेकसे उन दोनोंका मूल अनात्म पदार्थोंकी प्रतीति ही सिद्ध होती है। जैसे घटाभावनिश्चयके समय घटबुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उनका परस्पर विरोध है। इसी प्रकार देह-गेहप्रभृति अनात्मपदार्थोंमें अहन्त्व और ममत्वबुद्धि होनेके समय भी आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता, क्योंकि सुखप्रद और दुःखप्रद होनेके कारण उनका भी आपसमें विरोध है। इससे सिद्ध होता है कि अहन्त्व-ममत्वनिश्चय ही आत्मस्वरूपका आवरण करने वाला है ॥ ३१ ॥

जब अनात्म पदर्थोंमें अहन्ता और ममता होना ही आत्म साक्षात्कारका प्रतिबन्धक है तो आत्मदर्शनकी इच्छावाले पुरुषको अनात्म पदार्थोंकी उपेक्षा करके सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह बात अग्रिम श्लोक में कहते हैं —

> अवलोकय सर्वमेकया,
> मधुमत्या समुदारया दृशा।
> निजरूपमनाविलं महद्,
> असभातेषु कथं निमुह्यसि ॥ ३२ ॥

जिनका वास्तवमें कोई स्वरूप नहीं है, किन्तु केवल भ्रमसे

ही प्रतीत होते हैं उन अनात्म वस्तुओंमें मोह त्यागकर जो सर्वगत, अविद्या काम क्रोधादि दोषोंसे रहित और अपना स्वरूप ही है, उस परब्रह्म परमात्माको ही अपनी आनन्दामृत वर्षिणी उदार दृष्टिद्वारा सम्पूर्ण रूपोंमें देखा करो।

भाव यह है कि जिस प्रकार घटव्यक्तियोंका आपसमें भेद रहनेपर भी, घटजाति विवक्षित होनेपर और परस्पर व्यावृत्त घटव्यक्तियोंकी विवक्षा न होनेपर भिन्न-भिन्न घटव्यक्ति भी 'घट' 'घट' इस एकाकार प्रतीतिकी विषय हो जाती है इसी प्रकार स्थावर जङ्गमरूप सारा विश्व भी औपाधिक वैलक्षण्यकी विवक्षा न होनेपर भी उसके अधिष्ठान और सद्रूपमें भासमान एक परमात्माकी विवक्षासे ऐक्यप्रतीतिका विषय बन सकता है। इसमें किसी प्रकारकी भी आपत्ति नहीं है॥ ३१॥

उक्त ज्ञान ही निरतिशय सुखकी प्राप्तिका साधन है, इस बात को सिद्ध करनेके लिये आगे का श्लोक कहा जाता है:—

सकलं निजरूपमित्यव,
त्यज भेदभ्रममीहसे सुखम्।
यदि भूरिभयं द्वितीयतः,
श्रुतिरप्याहसनातनी तव॥ ३२॥

यदि तुम भयकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति चाहते हो तो भ्रमात्मक प्रतीतिके विषयभूत द्वैतप्रपञ्चकी उपेक्षा करो और सम्पूर्ण चराचरात्मक विश्वको अपना ही स्वरूप समझो। क्योंकि 'उदर-

मन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति', 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादि श्रुतियां द्वितीय-दर्शनसे ही भयका प्रतिपादन कर रही हैं। अर्थात द्वितीय दर्शनके त्यागसे ही भय की निवृत्ति होती है—इसीमें उक्त श्रुतियोंका तात्पर्य है। तथा 'ब्रह्म वित्परमाप्नोति', 'तरति शोकमात्मवित्', 'विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादि श्रुतियां स्पष्ट ही ब्रह्मज्ञानसे शोकोपलक्षित नामरूपात्मक प्रपञ्चकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिका प्रतिपादन कर रही हैं।

भाव यह है, 'यन्निन्द्यते तत्प्रतिषिद्ध्यते, यत्स्तूयते तद्विधीयते' अर्थात् शास्त्र जिसकी निन्दा करे, उसके निषेधमें और जिसकी स्तुति करे उसके विधान में उसका तात्पर्य होता है। जैसे 'असत्रं वा एतयदच्छन्दोमम्' अर्थात् वह सत्र असत्र है जिसमे छन्द और ॐ न हो। यहां छन्द और ॐ शून्य सत्रकी निन्दा करने से अच्छन्दोम सत्रका अनुष्ठान करना निषिद्ध है, ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु अतीव शीघ्र-गामी देवता है। इस वायुकी स्तुतिसे वायुदेवता विषयक यज्ञका विधान किया गया है। इसी प्रकार 'उदरमन्तरं कुरुते', 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्यादि भेदकी निन्दा करने वाले वचनोंसे यह सूचित होता है कि शास्त्र भेद-दर्शनको हेय मानता है और 'तरति शोकमात्मवित्', 'विद्वान नामरूपाद्विमुक्तः', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि आत्मज्ञानकी स्तुति देखी जानेसे श्रुतिका अभिप्राय आत्मबोधकी उपादेयतामें जान पड़ता है। इसलिये आत्म-

दर्शनसे सम्पूर्ण शोककी निवृत्ति और निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति बताना अप्रामाणिक नहीं है ॥ ३३ ॥

सकल क्लेशोंकी निवृत्ति और असीम आनन्दकी प्राप्तिमें ब्रह्मबोधकी कारणता केवल प्रमाण सिद्ध ही नहीं, युक्तिसंगत भी है। यही बात अग्रिम श्लोकमें कहते हैं :—

त्यज सङ्गमनात्मभावना-
कृतमङ्गीकुरु सर्वतः शुभाम् ।
प्रियतामवलोकयन्नहं
प्रविराजेऽखिलदेहकेष्विति ॥ ३४ ॥

'सकल शरीरोंमें उनकी समस्त अवस्थाओंका प्रकाशन करता हुआ मैं स्वयं साक्षीरूपसे विराजमान हूँ', इस निश्चयका अवलम्बन लेकर अनात्मभावनासे हुई विषयासक्तिको त्याग दो और सर्वत्र प्रियभावको स्वीकार करो। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशमें पापी पुरुष पाप करते हैं और पुण्यात्मा मनुष्य शुभ कर्मोंमें तत्पर रहते हैं, परन्तु सूर्यके लिये तो वे दोनों समान ही हैं। उसे न तो पापीसे घृणा है और न सुकृतीका पक्षपात है। इसीसे वह पापीको प्रकाश देनेमें उपेक्षा नहीं करता और पुण्यात्माको प्रकाशसम्पन्न करनेमें हर्ष नहीं मानता, क्योंकि वह केवल अपनेको प्रकाश ही मानता है, उन दोनोंके सुकृत-दुष्कृतसे होने वाले फलोंका भागी नहीं समझता, इसी प्रकार जो पुरुष अपने आपको देह और इन्द्रियादिके व्यापारोंका कर्त्ता न जानकर केवल

साक्षी ही समझेगा उसे कभी किसीके साथ राग-द्वेषका अवसर नहीं आवेगा और इसी कारण वह सारे क्लेशों से छूटकर परमानन्दका अनुभव करेगा ॥ ३४ ॥

अब 'अपने-आपको साक्षिस्वरूप माननेका क्या उपाय है' यह बात अगले श्लोकसे बतायी जाती है :—

विजहीहि दुरात्मसङ्गतिं,
कुरु शीलान्वितचेतसाममूम् ।
जय काममुखानिमानरी,
नवधायात्मनि मानसं मुहुः ॥ ३५ ॥

दुष्ट पुरुषोंकी सङ्गतिका त्याग करके सर्वदा सुशील और आत्मनिष्ठ पुरुषोंका ही सङ्ग करो तथा उनकी बताई हुई युक्तियों से मनकी आत्माकार वृत्तियोंका प्रवाह चलाकर काम क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओंका नाश कर डालो।

भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक व्यवहारमें वकालत अथवा डाक्टरीकी परीक्षा पासकर लेने पर भी मनुष्य स्वतन्त्ररूप से अपनी जीविकाका निर्वाह नहीं कर सकता, किन्तु उसे पहले उन कार्योंमें सिद्धहस्त पुरुषोंकी ही संगति करनी पड़ती है, उसके बादही वह अपना कार्य करनेके लिये सरकारी प्रमाणपत्र प्राप्त करके कार्य करनेका अधिकारी माना जाता है, इसी प्रकार अणोरणीयान् और अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे ग्रहणकी जाने योग्य परमात्म

वस्तुको प्राप्त करनेका भी एक यही उपाय है कि जिन्होंने परमात्म स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया हो ऐसे महापुरुषोंकी सङ्गति करके उनके उपदेश किये हुए उपाय द्वारा अपनेको मात्तिरूपसे निर्णय करें। इसीलिये 'प्राप्य वरान्निबोधत' 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इत्यादि श्रुति स्मृतियां गुरूपसत्तिका विधान करती हैं॥ ३५॥

गुरूपसदन के पश्चात् विवेक-वैराग्यादि साधनसम्पन्न होकर श्रवण, मनन और निदिध्यासनका वारंवार अनुष्ठान करना चाहिये। यह कहनेके लिये आगामी दो श्लोकोंसे पहले उपलक्षण रूपसे वैराग्यका विधान करते हैं:—

परिभावय भङ्गुरानिमान्

भवभोगानतिदारुणानये।

व्यथसे किमितीह बालिश

प्रसभं त्रोटय मोहबन्धनम्॥ ३६॥

इन सांसारिक विषयोंको क्षणभंगुर होनेके कारण अत्यन्त दुःखके हेतु समझो और उनके रागसे होनेवाले दुःखोंकी निवृत्ति के लिये उनमें पहलेसे उत्पन्न हुए मोह नामक बन्धनको काटकर विरक्तिका सम्पादन करो॥ ३६॥

अग्रिम श्लोकसे वैराग्यकी आवश्यकता दिखलाते हैं:—

अवधीरय वीर तानरीन्,
स्वशरीरं नगरीव यैः कृतम् ।
शफरीव विनीरतीरगा,
यदधीरं परिवर्ततेमनः ॥ ३७ ॥

हे वीर ! उन रागद्वेषादि शत्रुओंका बहिष्कार करो, जिन्होंने तुम्हारे शरीरको ही अपनीनगरी बना रक्खा है और जिनके पराधीन होकर तुम्हारा चित्त जलहीन तलैयामें पड़ी हुई मछलीकी तरह तड़फता रहता है ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तृप्ति होनेपर उसके साधनीभूत भोजन और उसे सिद्ध करनेवाली सामग्रीका त्याग कर दिया जाता है उसी प्रकार श्रवणादिके पश्चात् वैराग्यादि साधनोंका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनका त्याग तो तभी हो सकता था जबकि वे केवल श्रवणादिके ही साधन होते, परन्तु ऐसा है नहीं। वैराग्यादि जिस प्रकार श्रवणादिमें उपयोगी हैं उसी प्रकार ज्ञानपरिपाकके हेतु भी वे ही हैं। इसलिये ज्ञानपरिपाक होनेतक उनका त्याग नहीं करना चाहिये। उसके पश्चात् यद्यपि उनका कोई फल नहीं है परन्तु फिर भी वे विद्वान्के स्वभावभूत हो जानेके कारण स्वरूपसे बने ही रहते हैं, तब ज्ञानीको उनके लिये प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं रहती तथा बाधक न होनेके कारण उपेक्षा भी नहीं होती। इसलिये श्रवणादिसे पूर्व तो उनमें उपयोगी होनेके कारण वैराग्यादिकी अपेक्षा है और उनके बाद ज्ञानपरिपाकके

लिये वे अपेक्षित हैं। इस प्रकार वैराग्यादिका त्याग कभी नहीं हो सकता। इसीसे बार-बार उनका वर्णन किया गया है ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रवणादिकोंमें उपयोगी वैराग्योपलक्षित साधन-चतुष्टयका विधान करके अब आत्मसाक्षात्कारका साक्षात् साधन कहते हैं :—

परिशीलय लीन चेतसा,
सततं शास्त्रमिहात्मगोचरम् ।
अचिरादनुलप्स्यसे सुखं,
निजपूर्णत्वमधीत्यतत्त्वतः ॥ ३८ ॥

एकाग्रचित्त होकर निरन्तर उपनिषदादि अध्यात्मशास्त्रों का चिन्तन किया करो, जिससे तुम अपनेआपको पूर्णब्रह्मस्वरूप निश्चित करके शीघ्र ही परमानन्दमें मग्न हो जाओगे।

भाव यह है कि प्रमाका साक्षात् जनक प्रमाण ही हो सकता है, क्योंकि नेत्रादिके बिना घटादिविषयक प्रमाका उदय होना लोक में नहीं देखा जाता। इसी प्रकार ब्रह्म विषयिणी प्रमा भी प्रमाणजन्य होने पर ही प्रमापदवाच्य हो सकती है किन्तु ब्रह्म रूपरसादि सकल धर्मोंसे रहित होनेके कारण किसी भी लौकिक प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। इसलिये शब्दप्रमाणरूप उपनिषच्छास्त्रको ही ब्रह्मप्रमाका जनक मानना होगा। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मको औपनिषद कह कर भी इसी बात को पुष्ट किया गया है। यद्यपि तार्किक-

दिकों के सिद्धातमे शब्दजन्य ज्ञान अपरोक्ष नहीं माना जाता, अन्यथा स्वर्गादिविषयक शब्दबोध भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा, तथापि ब्रह्मप्रमामें किसी अन्य प्रमाणसे अपरोक्षत्व न हो सकनेके कारण शब्द मे ही अपरोक्षप्रमोत्पादकत्व मानना अनिवार्य होगा, क्योकि अपरोक्षरूपसे अनुभवमे आने वाली अविद्याकी निवृत्ति परोक्ष विद्या से नहीं हो सकती। शुक्तिरजतादि स्थलो मे भी ऐसा नहीं देखा गया। अतः अपरोक्ष अविद्याकी निवृत्ति करने वाली आत्मविद्या अपरोक्ष ही माननी होगी और नेत्रादिको उसके जनक न मानकर पूर्वोक्त युक्ति से तत्त्वमस्यादि शास्त्र को ही मानना होगा। इसलिये तार्किकको भी विवश होकर शब्दमे ही प्रत्यक्ष ज्ञानजनकता अङ्गीकार करनी पड़ेगी ॥ ३८ ॥

यद्यपि घटादिप्रमा नेत्रादि प्रमाणजन्य ही है तथापि पित्तादि दोष होनेपर 'पीतः शङ्ख.' इत्यादि भ्रमात्मक ज्ञान भी नेत्रादि से ही होता है। इस प्रकार निरपवादरूपसे प्रमाणमे प्रमाकी उत्पादकता नहीं है। इस आशङ्काका समाधान करने के लिये अग्रिम दो श्लोकोंसे श्रवणके सहकारी मननका विधान किया जाता है

तव नैव कदापि कल्मषं,
धिय एषा गुणदोषकल्पना ।
करणं यदि चेष्टते शुभे,
त्वशुभेवाऽप्यथ किं ततस्तव ॥ ३९ ॥

मुमुक्षुगण ! साक्षिस्वरूप तुम्हारेमें कर्तृत्व भोक्तृत्वादि कोई भी दोष नहीं है और 'मैं करता हूँ' 'मैं भोगता हूँ' इत्यादि प्रतीति तो साक्षीके उपाधिस्वरूप अन्तःकरण में जमे हुए कर्तृत्वभोक्तृत्व के कारण हो रही है। तुमसे सर्वथा पृथक् अन्तःकरण यदि किसी शुभ अथवा अशुभकर्ममें प्रवृत्त भी हो फिर भी तुम्हारा इसमें किसी प्रकारका हानि-लाभ नहीं है।

भाव यह है कि जिस प्रकार जपाकुसुमकी सन्निधिके कारण, स्वभावतः श्वेत होनेपर भी, सासिद्धिकधवल स्फटिकमें 'अरुण स्फटिक' इस प्रकार अरुणताका भ्रम होता है किन्तु परमार्थतः वह लालिमाके संसर्गसे शून्य ही रहता है, इसी प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मयुक्त अन्तःकरणकी सन्निधिके कारण 'अहं कर्त्ता भोक्ता' इस प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्वविशिष्ट प्रतीत होनेपर भी साक्षिचैतन्य वस्तुतः उन धर्मोंसे रहित ही रहता है ॥ ३९ ॥

वस्तुतः आत्माको कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट माननेवालोंके मतमें अन्तःकरण अथवा इन्द्रियगण ही आत्मा है। ऐसा माननेमें श्रुति से विरोध आता है। अतः आगेका श्लोक उनके मतका निराकरण करता है —

> न खलु त्वमसीह शेमुषी,
> न गणस्त्वं करणात्मनामपि।
> अपि तु प्रभुरद्भुतः सदाऽ-
> स्त्यदसीयः परिभासको भवान् ॥ ४० ॥

तुम्हारा स्वरूपभूत साक्षिचैतन्य बुद्धिसे भिन्न है। 'अहं बुद्धया विजानामि' (मैं बुद्धिसे जानता हूँ) इस प्रतीतिके कारण बुद्धि विज्ञानक्रियाके प्रति करणरूपसे सिद्ध होती है और आत्मा उस क्रियाके प्रति कर्त्तारूपसे सिद्ध होता है। तथा करण कभी कर्त्ता नहीं हो सकता। जैसे कि दण्ड कभी कुलालरूप नहीं हो सकता। यदि बुद्धिको ही आत्मा माना जायतो उसके लिये किसी अन्य करणकी कल्पना करनी होगी। इसके सिवा आत्मामे अनित्यता आदि दोष भी अवश्य मानने पड़ेंगे। इसी तरह इन्द्रिया भी आत्मा नहीं हो सकतीं, क्योकि इसमे तो कोई विशेष युक्ति दी नहीं जा सकती कि अमुक इन्द्रियको ही आत्मा माना जाय और अन्य इन्द्रियोको आत्मा न मानें। इसलिये लाचार होकर सभी इन्द्रियोको आत्मा मानना होगा। ऐसा मानने पर भी उनकी गौणता और प्रधानतामे कोई प्रमाण न होनेसे सबको स्वयं प्रधान ही मानना पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें यदि एक इन्द्रियकी इच्छा जाने की हुई और उसी समय दूसरीकी इच्छा ठहरनेके लिये हुई तो ऐसे समयमे शरीरको या तो दोनोसे विरोधके कारण पीड़ित होना होगा या अक्रिय रहना पड़ेगा और देखनेवालो तथा स्पर्श करने वालोंमें भेद रहनेके कारण 'योऽहमद्राक्ष स एवाहमिदानीं स्पृशामि' इत्यादि सर्वलोक प्रसिद्ध प्रतीतियोको भी भ्रमरूप मानना पड़ेगा और इस पक्षमे पूर्वोक्त अनित्यतादि दोष भी आ ही जायेंगे। इसलिये इन्द्रियां भी आत्मा नहीं हैं। किन्तु सदा एकरस रहनेवाला तथा मन बुद्धि आदि का प्रेरक और उनके उदय एव

अत्तको प्रकाशित करनेवाली जो चैतन्यघन मात्र वस्तु है वही आत्मा है और उसमें कर्तृत्वादि धर्म बुद्धि आदि उपाधियोंकी सन्निधिके कारण प्रतीत होते हैं। वस्तुतः उसमें किसी भी धर्म का गन्ध तक नहीं है।

भाव यह है कि जिस प्रकार कोई नेत्र दोष न होनेपर केवल चक्षु ही में घटादिगोचर प्रमा उत्पन्न हो सकती है। अतः असम्भावनादि दोषोंका उदय न होनेपर केवल श्रुतिका शब्द ही ब्रह्मविषयिणी प्रमा उत्पन्न कर देगा। दोषका साथ रहनेपर जैसे उसके निवारणके लिये दृष्टान्तमें दूसरे प्रयत्न का आलम्बन करना पड़ता है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिकमें भी पूर्वोक्त युक्तियोंसे पहले ब्रह्मात्मैक्यके विषयमें असम्भावनादि दोषोंका निराकरण करके शब्दसे प्रमा उत्पन्न होगी॥ ४० ॥

इस प्रकार मननके सहित श्रवण अथवा केवल श्रवणसे ब्रह्मात्मैक्य विषयके यथार्थ बोधका प्रतिपादन किया गया। परन्तु जो अधिकारी बुद्धिकी स्थूलता अथवा विक्षेपकी अधिकताके कारण श्रवण-मननका यथावत् अनुष्ठान न कर सकें उनको पहले उस प्रतिबन्धकको दूर करनेके लिये निदिध्यासनका विधान करनेके लिये आगेके दो श्लोक कहे जाते हैं:—

अवहेलय भेदकल्पना-
मवलोकस्व समस्तमात्मनि।
सकलेंच निबोध निष्कलं
मखचैतन्यमनन्तवैभवम्॥ ४१ ॥

भेदबुद्धिका त्याग करके सम्पूर्ण संसारको अपने आत्मामें ही अधिष्ठित समझो तथा मुक्तचैतन्यैकरस, दिक्कालवस्तुपरिच्छेद-शून्य एवं अविद्या और उसके कार्यसे रहित आत्माको अधिष्ठान रूपसे सर्वत्र विद्यमान देखो।

'मैं सर्वस्वरूप हूँ और सारा जगत् मेरेमें ही स्थित है' इस प्रकारके अनुभवका नाम आत्मसाक्षात्कार है। साक्षात्कार होनेसे पूर्व अपने प्रयत्न द्वारा वैसी वृत्ति करनेकी चेष्टा करना निदिध्यासन है। इस प्रकार दीर्घकाल नैरन्तर्य और सत्कारपूर्वक निदिध्यासन की आवृत्ति करनेसे अन्तःकरण वैसी शान्त वृत्तिके उदयके योग्य हो जायगा। तब पहले सुना हुआ शब्द ही प्रमाका जनक हो जायगा।

महिमा तव चैष शाश्वतो
नहि पुण्ये सति वर्द्धते मनाक्।
ह्रसते वृजिने न पूर्ववत्,
प्रथते तत्कृतकृत्यको भवान्॥ ४२॥

आत्माकी विशेषता यही है कि न तो पुण्यकर्मसे उसमें कोई उत्कर्ष होता है और न पापकर्मसे किसी अपकर्षकी ही प्राप्ति होती है। किन्तु दोनो ही अवस्थाओंमें पूर्ववत् अपने स्वरूपमें स्थित रहकर समस्त जडवर्गको प्रकाशित करता रहता है। हे जिज्ञासुवर्ग! इस प्रकार तुम अपने आत्माकी भावना करते हुए एक दिन अवश्य उस आत्मदेवका साक्षात्कार करलोगे और फिर

तुमको कोई कर्तव्य शेष न रहनेके कारण सर्वदा परमानन्दका अनुभव होता रहेगा ॥ ४२ ॥

जिनका चित्त निदिध्यासनमें आसक्त न हो उनको निराकार चिन्तन करना हितकर है। यह कहनेके लिये अग्रिम श्लोक है:—

प्रतिपत्तमधीष्व शान्तये
ननु शान्तीरनुवेदमुद्गताः ।
रहसि प्रणिचिन्तयस्व च,
प्रणवं तत्प्रवणेन चेतसा ॥ ४३ ॥

साधकवर्ग ! अपने चित्तको निदिध्यासन के योग्य बनानेके लिये तुम अलग-अलग वेदोंमें आये हुए शान्ति-पाठका प्रतिदिन पाठ करो और निर्जन स्थानमें तत्पर होकर प्रणव का अभ्यास करो ।

तात्पर्य यह है कि अनादिकालसे चित्तको नाम-रूपके चिन्तन का अभ्यास पड़ा हुआ है। इसी कारणसे वह नामरूपसंसर्गहीन निरालम्बावस्थारूप निदिध्यासनका सहसा अनुष्ठान नहीं कर सकता। यहां तक कि अधिकांश जिज्ञासु तो यह समझ भी नहीं सकते कि चित्तका निरालम्ब रहना क्या है। इसलिये उनको पहले नामरूपमेंसे रूपांशको छोड़कर केवल नामात्मक प्रणवका चिन्तन करना चाहिये। जब चित्त रूपांशको त्यागकर केवल नामांशके आलम्बनसे स्थिरता ग्रहण करने लगे तो फिर शनैः शनैः नामांश

सो भी त्यागकर निरालम्बायस्थारूप निदिध्यासनका अभ्यास करनेसे अभिलषित लक्ष्यकी प्राप्ति हो जायगी ॥ ४३ ॥

परन्तु जिनका चित्त नाम और रूप दोनों अंशोंमेंसे एक भी न त्याग सके उनको चाहिये कि सबसे पहले नाम रूपका ही चिन्तन करें। ये लौकिक नामोंके स्थानमें भगवन्नामका और लौकिक रूपोंके स्थानमें भगवद्रूपका चिन्तन करें। यह बात आगेके दो पद्योंमें कही जायगी :—

अयि चिन्तय चेतसा चिरं
क्वचिदम्भोदविनीलगात्रकम् ।
सकलेन्दुसमाभवक्त्रकं
मधुरं श्रीवनमालिनं मुदा ॥ ४४ ॥

अयि साधकगण ! यदि तुम्हारा चित्त नामरूपचिन्तनका रसिक है तो तुम निरन्तर मन ही मन श्री कृष्णचन्द्रकी घनश्याम एवं पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली, मनोहर मूर्तिका ही चिन्तन किया करो तथा भगवानके नामोंकाही स्मरण करो ॥

भाव यह है कि जिस प्रकार धनुर्वेदका विद्यार्थी पहले स्थूल लक्ष्यका वेधन करता है और उसके पश्चात् कालान्तरमें सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, इस क्रमसे वह इतना सिद्धहस्त हो जाता है कि चलते-फिरते लक्ष्योंका वेधन करना भी उसे आसान प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार प्राथमिक साधकको भी सबसे पहिले स्थूल पाञ्चभौतिक भगवत्स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये और

उसके पश्चात् निराकार चिन्तन करते हुए चित्तको निरालम्ब स्थितिमें ले जाना चाहिये । यही विषय पुराणमें कहा है :—

'शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशङ्खाक्षवलयान्वितम् ।
चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम् ॥ १ ॥
ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः ।
चिन्तयेद् भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम् ॥ २ ॥
यदा च धारणा तस्मिन्नवस्थानवती भवेत् ।
तदैकावयवं देवं सोऽहं चेति पुनर्बुधः ॥ ३ ॥
कुर्यात्ततो ह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेत् ॥'

इस प्रकार स्थूलादि ध्यानके क्रमसे जब चित्त निरालम्ब होकर स्थिर रहने लगे तब निदिध्यासनद्वारा पहले मननपूर्वक सुना हुआ महावाक्य अप्रतिबद्धरूपसे करामलकवत् ब्रह्मका अपरोक्ष बोध उत्पन्न कर देता है जहाँ जाकर 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इस वाक्यसे भगवान् ने समस्त कर्मोंकी समाप्ति कही है ॥ ४४ ॥

बहुधा देखा जाता है कि अपनेको विष्णुभक्त माननेवाले पुरुष शिवकी निन्दा किया करते हैं और शिवका अभिमान रखने वाले विष्णुको प्रणाम करना पाप समझते हैं। ऐसी ही दशा अन्यान्य देवताओंकी आराधना करनेवालों की भी है। उनके चित्तसे ऐसे कुसंस्कारोंके हटानेके लिये आगेका पद्य है :—

अपि गामग भूधरोपमे,

वृषभे रूढमगूढविग्रहम् ।

भसितेन विभूषित जटा-

स्खलदम्भः पृथुपूरमीश्वरम् ॥ ४५ ॥

यदि आपका चित्त भगवान कृष्णकी मनोहर मूर्त्तिके ध्यानमे रुचि नहीं रखता तो भगवान शङ्करके सच्चिदानन्द स्वरूपका ध्यान करो जो पर्वतके समान विशाल बैलपर चढ़े हुए हैं जिनकी जटाओंसे भगवती भागीरथीका प्रवाह बड़े वेगसे बह रहा है और जिनका देह भस्मसे धवलित हो रहा है। यदि उसमे भी चित्तकी प्रवृत्ति नहीं है तो किसी अन्य इष्टदेवके विग्रहका चिन्तन करो।

तात्पर्य यह है कि मार्गमे चलनेवाले पुरुषको सहारेके लिये लाठीकी आवश्यकता होती है। वह लाठी चाहे काठकी हो चाहे किसी धातुकी उसका और कोई प्रयोजन नहीं होता, उसे जैसा सहारा काठकी लाठीसे मिल सकता है, उससे अधिक धातुकीसे भी नहीं मिल सकता। इसी प्रकार चित्तको स्थिर करनेके लिये हमे किसी आलम्बनकी आवश्यकता है। वह चाहे कृष्ण प्रतिमा हो अथवा शिवमूर्ति—इसमे आग्रहकी आवश्यकता नहीं है। जिस का चित्त जिस विग्रहमे अधिक प्रेम रखता हो उसे उसी विग्रहका ध्यान श्रेयस्कर होगा, क्योंकि चित्तकी स्थिरता होनेपर तो उसका त्याग ही करना पड़ेगा। इसलिये किसी देवविग्रहमे तारतम्य समझना अविवेक है, उससे सफलता नहीं मिल सकती। योग-

सूत्रोंके रचयिता भगवान् पतञ्जलिजीने भी इसी अभिप्रायसे 'यथाभिमतध्यानाद्वा' इस सूत्रका निर्माण किया है, जिसका अर्थ है कि अपनेको अभीष्ट किसी भी देवताके स्वरूपका ध्यान करनेसे चित्तको स्थिर किया जा सकता है। इसलिये हमको चाहिये कि सब देवोंमें समान भाव रखकर अपने हृदयका ध्यान रखते हुए इष्टदेवका ध्यान करें ॥ ४५॥

बहुत लोग कहते हैं कि जो लोग दुःखी हैं, निर्धन हैं और किसी भी कार्यको करनेमें समर्थ नहीं हैं उन्हींको अपनी दुःखोंकी निवृत्तिके लिये ईश्वरका भजन करनेकी आवश्यकता है। परन्तु जिनके पास पहिले से ही पर्याप्त ऐश्वर्य है, शरीरमें पुष्कल बल है और जिनका आधिपत्यभी अप्रतिहत है उनको भगवद्-भजनकी कोई आवश्यकता नहीं है-इत्यादि। इस आक्षेपका समाधान अगले श्लोकसे करते हैं:—

> दुधुवुर्गमनेन मेदिनी-
>
> मपि ये रावणतत्सुतादयः।
>
> इह तेऽपि यमेन चर्विताः,
>
> क वयं कीटपतङ्गसन्निभाः ॥ ४६ ॥

जिनके चलनेमे ही पृथ्वी कांपने लगती थी ऐसी शारीरिक शक्ति रखनेवाले भी रावण और उसके पुत्र-पौत्रादि अन्तमें काल के गालमें चले गये, फिर मच्छर और मक्खियोंके समान हम लोगोंकी तो बात ही क्या है।

तात्पर्य यह है कि अतुलित ऐश्वर्यवान और त्रिलोकविजयी रावणादि के समान आधुनिक प्रजामें न तो बल है और न धन ही है। वे भी 'जब नष्ट हो गये तब हमारे नाश में तो संदेह ही क्या है? इस लिये हमको उस महाबलशाली काल से अपनी रक्षा करने के लिये 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः; उससे भी बली 'भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इस श्रुतिके अनुसार भगवान् की शरण लेनी चाहिये। सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति उसका फल नहीं है। हाँ, वह उसका आनुषङ्गिक फल हो सकता है। इस लिये प्रत्येक पुरुषको कालके गालमें प्रवेश करनेसे बचनेके लिये भगवद्भजन का आलम्बन लेना चाहिये॥ ४६॥

किन्हींका कथन है कि भगवद्भजन करना तो अवश्य चाहिये, परन्तु हम उसे सांसारिकसुख भोगनेके अनन्तर वृद्धावस्थामें कर लेंगे इसका उत्तर आगामी पद्य से देते हैं—

तदुदेधि यतस्व सत्वरं
 निजनिःश्रेयसहेतवे स्फुटम्।
ते सति मानवे वपु-
 ष्यभिलष्यन्नपि किं करिष्यसि॥ ४७॥

यदि मृत्युसे बचनेका उपाय केवल भगवद्भजन ही है तो उठो और शीघ्र ही अपने कल्याणके साधनका अनुष्ठान करो, क्योंकि

सर्व साधनोंके करनेमें समर्थ मनुष्यशरीरका नाश होनेपर तुम चाहते हुऐ भी कुछ नहीं कर सकोगे।

भाव यह है कि जो पुरुष सर्व प्रकारकी औषधियोंसे भरे हुए औषधालयमें रहकर भी अपने रोगों की चिकित्सा नहीं कर सका वह औषधहीन स्थानमें जाकर कर लेगा यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'जो कि मृत्युरूप व्याधिका चिकित्सास्थल है, उस मानव शरीर के रहते हुए जब हम जरामृत्युरूपरोगकी निवृत्ति नहीं कर सके तब इसके अयोग्य अन्य शरीरोंको पाकर कर लेंगे यह कैसे सम्भव हो सकता है। अतः प्रत्येक मुमुक्षुको उचित है कि जबतक उसका शरीर नीरोग है तभी तक अपने श्रेयके लिये उसे जो कुछ करना हो करले, क्योंकि रोगाक्रान्त होने पर कुछ नहीं किया जा सकता। इसी अभिप्राय को किसी कवि ने भी—

'न व्याधयो न वा मृत्युः श्रेयः प्राप्तिं प्रतीक्षते।
यावदेव भवेत्कालस्तावच्छ्रेयः समाचरेत्॥'

इस श्लोक में स्पष्टतया प्रतिपादित किया है॥ ४७॥

यावज्जीवन, साकारोपासना करना ही श्रेयस्कर नहीं है, किन्तु जब ध्यानके बलसे चित्त सूक्ष्मतम वस्तुको ग्रहण करने में समर्थ हो जाय तब किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाकर निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये चेष्टा करनी चाहिये। यह

से भी अधिक पण्डितम्मन्य हैं उनका कथन है कि भले ही ब्रह्म आनन्दस्वरूप है परन्तु जैसे मिश्रीका आनन्द तो उससे भिन्न उसका आस्वादन करने वाला ही ले सकता है मिश्रीस्वरूप होने पर वह आनन्द नहीं मिल सकता इसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् रह कर ही उसका आनन्द लिया जा सकता है, यदि ब्रह्मस्वरूप ही हो गये तो क्या आनन्द का अनुभव होगा इसलिये मुक्तिके लिये सारे प्रयत्न निरर्थक ही हैं। इन दोनों मतवादियों का अग्रिम दो पद्यों से समाधान करते हैं—

> परयेदं जगदखिलं निजात्मनि त्वं
>
> मिथ्यामं मरुकिरणेष्विवोत्थमम्भः ।
>
> संरम्भं त्यज तदिह स्वयंप्रकाशो
>
> भासि त्वं ननु बहुधा किमीहसे भोः ॥५०॥

तुम इस सकल संसार को, मरुप्रदेशमें पड़ी हुई सूर्यकी किरणोंमें दिखाई देने वाले जलके समान, आत्मामें कल्पित समझो और संसारके मिथ्यापदार्थोंके भोगनेमें जो तुम्हारी प्रवृत्ति है उसे त्याग दो, देखो तुम्हारा स्वरूपभूत चैतन्य स्वयंप्रकाश होनेके कारण निरन्तर भासमान रहता है। उसे त्यागकर तुम और क्या चाहते हो ? ॥ ५० ॥

यदि कहो कि हमें आनन्दकी आवश्यकता है। आत्मा स्वयंप्रकाश है तो रहे, आनन्दहीनके कारण वह भी हेय है। तो उसका उत्तर देते हैं—

कल्याणं तव विमलं महस्स्वरूपं
ध्यायन्ति स्फुटमनिशं मुनीशमुख्याः
पुण्यापे त्वयि न तरामपि प्रथेते
माऽहन्तामिह जडतात्रति प्रसीपीः ॥ ५१ ॥

तुम्हारा स्वरूपभूत आत्मा लेशमात्र दुःखके संसर्गसे शून्य और निरतिशय आनन्दरूप है। इसी से नित्य और निरतिशय आनन्द माननेकी इच्छा वाले प्राचीन-ऋषि, मुनियोंने भी ध्यान और चिन्तनआदिके द्वारा उसीका साक्षात्कार करके अपनेको कृतकृत्य माना था। उस तुम्हारे स्वरूपमें पुण्य-पापका लेप भी नहीं होता। किन्तु इस जड़-शरीरमें अहन्त्व का अध्यास होने से उस में इन सब विरोधी गुणोंकी प्रतीति होती है। इसलिये सब अनर्थोंके मूल इस देहात्मत्वनिश्चयका त्याग करो।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों ही पुरुषार्थ-पदके वाच्य माने जाते हैं तथापि यदि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि वस्तुतः पुरुषार्थ पदसे कहे जाने योग्य कैवल्य ही है। उससे भिन्नोंमें इस शब्दकी प्रवृत्ति बालकमें अग्नि शब्दकी प्रवृत्तिकी तरह गौणी वृत्तिसे है, क्योंकि पुरुषोंकी निरुपाधिक इच्छाका विषयभूत पदार्थ ही पुरुषार्थपदका मुख्य अर्थ हो सकता है और वह केवल मोक्ष ही है कारण कि एक तो वह प्राणिमात्रको अभिलषित है दूसरे उसमें जो इच्छा है वह किसी अन्य निमित्तसे नहीं है। अतः

नात्यन्तं कुरु सहसा जनैरबोधै-
रासङ्गं भज विदुषां समीपमाशु ।
उत्कर्षेरय धिषणां निशाममीषा-
मीशानैरुपपत्तिं वचोभिरान्ध्यम् ॥ ४८ ॥

अज्ञानी पुरुषोंके सहवासमें ही आयु को बिताते रहना उचित नहीं है शीघ्र ही श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुओंकी सेवामें उपस्थित हो जाओ तथा उनके प्रामाणिक और उपपत्तिपूर्ण वचनों का अवलम्बन लेकर अपने हृदयपटलमें फैले हुवे मोहतिमिरको दूर करनेके लिये अपनी बुद्धिमें सामर्थ्य सम्पादन करो।

तात्पर्य यह है कि जिस पुरुषने कभी सिंह नहीं देखा वह यदि वनमें जाकर उसे अपने नेत्रों से देख भी ले तो भी कोई जब तक दूसरा पुरुष 'यह सिंह है' ऐसा न बतादे तबतक उसे सिंहका पूर्ण निश्चय नहीं होता। इसी प्रकार साकारचिन्तन-से जब अन्तःकरण आत्मदर्शन में समर्थ हो जाय तो अवश्य गुरुके समीप जाना चाहिये। नहीं तो तुम्हें परमात्माका पूर्ण निश्चय नहीं हो सकेगा ॥ ४८ ॥

यदि श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी प्राप्ति न हो तो निर्गुण आत्माकी उपासना करनी भी हितकर है—यह कहनेके लिये आगेका पद्य है—

वीताशो भवविमलाशयः ममस्मिन् ,

स्फीताशः स्थिरसुखदे पदे नितान्तम् ।

प्रध्यायेरथ विशदं विशोकमेकं,

स्वात्मानं विभुमखिलान्तरात्मभूतम् ॥ ४६॥

सांसारिक विषयोंमे सुखप्राप्तिकी दुराशा छोड़कर शुद्धान्तःकरण हो मर्मात्मभावस्वरूप नित्यनिरतिशयसुखप्रद पदकी तीव्र आकाङ्क्षा रखते हुए स्वयंप्रकाश, सकलदूषण रहित, एक, विभु और समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मस्वरूप अपने प्रत्यगात्मा का निरन्तर ध्यान किया करो। इस निर्गुणोपासनासे भी निर्गुणतत्त्वका साक्षात्कार हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपासना कोई प्रमाण नहीं है इसलिये उससे होने वाला ज्ञान प्रमारूप नहीं हो सकता तथापि जिस प्रकार कोई पुरुष रात्रि मे खद्योतको मणि समझकर लेने के लिये जाय और वहा जाने पर खद्योत तो उड जाय, किन्तु पास ही पडा हुआ मणि मिल जाय तो इस संवादिभ्रमकी तरह उपासनाजन्य ज्ञान स्वयं भ्रमरूप होता हुआ भी ब्रह्मप्रमाका प्रयोजक हो सकता है ॥ ४६ ॥

बहुतसे लोग कहा करते हैं कि 'मोक्ष मे क्या रक्खा है जैसे पत्थर निष्क्रिय, कूटस्थ और शीतोष्ण की प्राप्तिमे एकरस रहता है उसी प्रकारका ब्रह्मभावात्मक मोक्ष है। इस लिये उसके लिये उद्योग करना पूरा अविवेक ही है।' इत्यादि। जो कुछ उन

से भी अधिक पण्डितम्मन्य हैं उनका कथन है कि भले ही ब्रह्म आनन्दस्वरूप है परन्तु जैसे मिश्रीका आनन्द तो उससे भिन्न उसका आस्वादन करने वाला ही ले सकता है मिश्रीस्वरूप होने पर वह आनन्द नहीं मिल सकता इसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् रह कर ही उसका आनन्द लिया जा सकता है, यदि ब्रह्मस्वरूप ही हो गये तो क्या आनन्द का अनुभव होगा इसलिये मुक्तिके लिये सारे प्रयत्न निर्थक ही हैं। इन दोनो मतवादियों का अग्रिम दो पद्यो से समाधान करते हैं—

पश्येदं जगदखिलं निजात्मनि त्वं
मिथ्याभं मरुकिरणेष्विवोत्थमम्भः।
संरम्भं त्यज तदिह स्वयंप्रकाशो
भासि त्वं ननु बहुधा किमीहसे भोः ॥५०॥

तुम इस सकल संसार को, मरुप्रदेशमें पडी हुई सूर्यकी किरणोंमें दिखाई देने वाले जलके समान, आत्मामें कल्पित समझो और संसारके मिथ्यापदार्थोंके भोगनेमें जो तुम्हारी प्रवृत्ति है उसे त्याग दो, देखो तुम्हारा स्वरूपभूत चैतन्य स्वयप्रकाश होनेके कारण निरन्तर भासमान रहता है। उसे त्यागकर तुम और क्या चाहते हो ? ॥ ५० ॥

यदि कहो कि हमे आनन्दकी आवश्यकता है। आत्मा स्वयंप्रकाश है तो रहे, आनन्दहीनके कारण यह भी हेय है। तो उसका उत्तर देते हैं—

कल्याणं तव निर्मलं महत्स्वरूपं

ध्यायन्ति स्फुटमनिशं मुनीशमुख्याः

पुण्यापे त्वयि न तृणमपि प्रथेते

माऽहन्त्वामिह जडतावति प्रसैषीः ॥ ५१ ॥

तुम्हारा स्वरूपभूत आत्मा लेशमात्र दुःखके संसर्गसे शून्य और निरतिशय आनन्दरूप है। इसी से नित्य और निरतिशय आनन्द माननेकी इच्छा वाले प्राचीन-ऋषि, मुनियोंने भी ध्यान और चिन्तनआदिके द्वारा उसीका साक्षात्कार करके अपनेको कृतकृत्य माना था। उस तुम्हारे स्वरूपमें पुण्य-पापका लेप भी नहीं होता। किन्तु इस जड़-शरीरमें अहन्त्व का अध्यास होने से उस मे इन सब विरोधी गुणोंकी प्रतीति होती है। इसलिये सब अनर्थोंके मूल इस देहात्मत्वनिश्चयका त्याग करो।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों ही पुरुषार्थ-पदके वाच्य माने जाते हैं तथापि यदि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि वस्तुतः पुरुषार्थ पदसे कहे जाने योग्य कैवल्य ही है। उससे भिन्नोंमे इस शब्दकी प्रवृत्ति बालकमें अग्नि शब्दकी प्रवृत्तिकी तरह गौणी वृत्तिसे है, क्योंकि पुरुषोंकी निरुपाधिक इच्छाका विषयभूत पदार्थ ही पुरुषार्थपदका मुख्य अर्थ हो सकता है और वह केवल मोक्ष ही है कारण कि एक तो वह प्राणिमात्रको अभिलषित है दूसरे उसमें जो इच्छा है वह किसी अन्य निमित्तसे नहीं है। अतः

प्राणीमात्रका अभीष्ट होनेके कारण तथा, अपनेसे भिन्न किसी अन्य इच्छाके अधीन न रहनेवाली इच्छाका विषय होनेके कारण मोक्ष ही वास्तविक पुरुषार्थ है।

यदि कहें कि पशु-पक्ष्यादि तथा नास्तिकलोग मोक्ष नहीं चाहते, यदि चाहते तो उसके लिये प्रयत्न भी करते इस लिये मोक्षमें प्राणिमात्रकी इच्छाकी विषयता नहीं है' इत्यादि तो इसपर हम कह सकते हैं कि मोक्षके यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण ही ऐसी शंका होती है। उसका यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर इस शंकाके लिये स्वयं ही अवकाश नहीं रहेगा। मोक्ष स्वर्गादिके समान कोई लोकान्तर नहीं है किन्तु नित्य निरतिशय-आनन्द और सकल दुःखो की आत्यन्तिकनिवृत्ति ही मोक्ष कहलाती है। अब बताइये ऐसा कौन प्राणी है जो इसे नहीं चाहता। किसी दुःखाक्रान्तको यदि उसका दुःख दूर करनेके लिये हम औषध देनेसे पूर्व यह कह दें कि इस औषधसे तुम्हारा रोग एक सप्ताहके लिये हट जायगा किन्तु सप्ताहके पश्चात् वह तुमको फिर दबा लेगा और इस दूसरी औषधिके सेवनसे तुम्हें यह रोग आजन्म नहीं होगा, परन्तु इसका मूल्य बहुत है अब बताओ तुम्हें कौनसी औषध दी जाय' तो निःसन्देह वह पुरुष दूसरी औषधि ही लेगा। इससे सिद्ध है कि आध्यात्मिकादि तीनों तापों की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही सबको अभीष्ट है। इसी प्रकार सबकी यही इच्छा रहती है कि हमको सबकी अपेक्षा अधिक सुख हो और वह सर्वदा बना रहे। इससे यह स्पष्ट है कि सबको नित्य-

निरतिशय सुख ही अभीष्ट है और यही दो मोक्षके स्वरूप हैं। अत. यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि मोक्षकी अभिलाषा सबको है। तथा उसकी इच्छा भी अन्य इच्छाके अधीन न होनेके कारण निरुपाधिक है, अत. सबको अभिलषित और निरुपाधिक इच्छाका विषय होनेके कारण मोक्षको ही पुरुषार्थ शब्दका मुख्य अर्थ मानना सर्वथा उपपन्न है। उससे भिन्न फलोंमे तो 'फलेच्छा उपायमुपसङ्क्रामति' इस नियमके अनुसार सुखेच्छा के कारण ही जीवोंकी इच्छा है। इसलिये वह सोपाधिक या गौण इच्छा है। इतर पदार्थ प्राणिमात्रको अभिलषित भी नहीं हैं। किन्तु जिसकी जिसमें सुखसाधनत्वबुद्धि है उसी पुरुषकी उस मे इच्छा है, दूसरेकी नहीं। अर्थ और धर्मको मनुष्य चाहता है, परन्तु पशु-पक्षी नहीं चाहते। इसी प्रकार कामको अत्यन्त वृद्ध अथवा शिशु नहीं चाहते, युवा चाहते हैं तथा पुत्र-कलत्रादि पदार्थों मे भी समस्त प्राणियोंकी इच्छा नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि मोक्षेतर पदार्थोंमे गौण इच्छा है और वह सर्वाभीष्ट भी नहीं है। इसीलिये उन्हे पुरुषार्थ शब्दके मुख्यार्थ न समझकर गौणार्थ ही मानना चाहिये। मोक्षको परम पुरुषार्थ कहना और धर्मादियोंको केवल पुरुषार्थ कहना इसी बातका समर्थक है। वह परमपुरुषार्थ भूत मोक्ष ब्रह्मस्वरूप है, क्योंकि शास्त्रोंमे ब्रह्मको आत्यन्तिक दु ख निवृत्तिसे उपलक्षित नित्यनिरतिशय आनन्दस्वरूप ही माना है। अत ब्रह्मप्राप्ति और मोक्षप्राप्ति एक ही चीज है।

परन्तु यदि वह ब्रह्मरूप मोक्ष अज्ञात रहे तब भी वह पुरुषार्थ

नहीं होगा। इसीलिये उसे शास्त्रोंमें अपने आत्मासे अभिन्नरूपसे प्रतिपादित किया है, क्योंकि आत्मा कभी किसीको अज्ञात नहीं रहता, सभी अपने आपको जानते हैं। अतः उससे अभिन्न ब्रह्मस्वरूप मोक्ष भी सदा अपरोक्ष रहनेके कारण पाषाणप्राप्तिके तुल्य नहीं हो सकता, उसके साधनोंमें मतभेद होनेके कारण ही पुरुषों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां हो रही हैं। जैसे दो पुरुष किसी उग्र पापके कारण अपने नगर में कलङ्कित हो जायँ और उस कलङ्कसे बचनेके लिये एकतो विषभक्षणादिके द्वारा अपना देहान्त करले और दूसरा देशत्यागकर ही अपना पीछा छुड़ाले तो वहां फल तो अपनी अपकीर्ति न सुननारूप एक ही है तथापि मरण और देशत्यागरूप साधन भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार मोक्षरूप एक ही फलके लिये वादियोंनें अनेकों उपायोंकी कल्पना की है। परन्तु जिस प्रकार दृष्टान्तस्थलमें मरण अथवा देशत्याग पापनिवृत्तिका साधन नहीं है किन्तु शास्त्रोपदिष्ट प्रायश्चित्तादि ही उसका यथार्थ साधन है उसी प्रकार दार्ष्टान्तिकस्थलमें भी वैदिक साधन ही मोक्ष प्राप्तिके यथार्थसाधन हैं। उनसे भिन्न और सब साधनाभास हैं। इसलिये मुमुक्षु को उचित है कि अन्य वादियोंके कल्पना किये हुए साधनाभासों को छोड़कर वैदिक साधनोके अनुष्ठानमें ही तत्पर रहे ॥ २१ ॥

पूर्व ग्रन्थमें मोक्षका यथाथ स्वरूप वर्णन करनेसे ज्ञात हुआ कि वह सबको अभीष्ट तथा स्वयंप्रकाश और निरतिशय सुखस्वरूप पदार्थ है। इसलिये 'मोक्षकी कामना करना पत्थर बननेकी कामना

करनेके समान है तथा मिश्री बनकर जैसे मिश्रीका स्वाद नहीं लिया जा सकता उसी प्रकार ब्रह्म बनकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करना सर्वथा गगनकुसुमके समान है' इत्यादि सब आक्षेपोंका इससे समाधान हो गया, क्योंकि दृष्टान्तस्थलमें मिश्री जड़ होनेके कारण माधुर्यका अनुभव नहीं करती। परन्तु मोक्ष स्वयं प्रकाश-सुखरूप होनेसे कभी अज्ञात नहीं रह सकता। इसलिये उसके प्रधान साधन आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रत्येक मुमुक्षुको विवेक वैराग्यादि साधनचतुष्टयका सम्पादन करना चाहिये। यह कहनेके लिये आगेका श्लोक प्रवृत्त होता है :—

वैराग्यं पृथु बिभृहि स्मराखिलं भो
दुःखाढ्यं क्षणविरसं चलं च दृश्यम्।
स्पृश्यन्तामिह विषया यथौषधं स्यात्
नैराश्यं श्रय नितरामुदास्स्व नित्यम्॥ ५२॥

अयि मुमुक्षुवर्ग! समस्त दृश्यको क्षणभंगुर, विरस और दुःखपूर्ण देखते हुए परवैराग्यको धारण करो। शरीरस्थितिके प्रयोजक आहार-विहारादि को भी क्षुधा-पिपासा रूप रोगके निवारणके लिये औषधरूपसे सेवन करो और सम्पूर्ण सांसारिक विषयोंसे सुखप्राप्तिकी आशा छोड़कर प्रारब्धवश इष्ट या अनिष्ट प्राप्त होनेपर भी उदासीन वृत्ति धारण करो।

भाव यह है कि जैसे विना सीढ़ियोंके महलकी छत पर

चढ़नेके लिये पहले चढ़नेके साधनस्वरूप सीढ़ियोंको बनानेकी आवश्यकता है, बिना उसे बनाये चढ़नेका प्रयत्न करना व्यर्थ समय खोना ही है इसी प्रकार मोक्षकी प्राप्तिके लिये उसके साधनोंका अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है, साधनानुष्ठान न करके किसी अन्य प्रकारसे उसे पानेकी चेष्टा करना व्यर्थ ही है। इसीसे बार-बार साधनोंका उपदेश किया गया है। अतः प्रत्येक मुमुक्षुको व्यर्थकालक्षेप न करके साधनानुष्ठानमें तत्पर हो जाना चाहिये॥ ४१॥

जिस प्रकार रथ और घोड़े सारथिके अधीन रहते हैं, रथीके नहीं, रथी यदि किसी अभीष्ट स्थलपर रथको पहुँचाना चाहे तो वह सारथिकी प्रसन्नतासे ही ऐसा कर सकता है यदि सारथि अप्रसन्न हो तो उसको किसी गढे अथवा जंगलमें ले जा सकता है इसी प्रकार जीवरूप रथीके पास इन्द्रियरूप घोड़े हैं, उनके चालक परमात्माकी शक्ति इन्द्रियोंके अधिष्ठाता सूर्यादिक देवगण सारथि हैं। अब हम यदि अपने घोड़ोंको कैवल्यपथपर चलाना चाहें तो हमको आवश्यक है कि उन देवरूप सारथियोंकी प्रसन्नता सम्पादन करें। उन प्रत्येककी प्रसन्नताका उपाय परमेश्वर-की प्रसन्नता है, क्योंकि 'एतस्यैव सा विसृष्टिः' इस श्रुतिके अनुसार सब देवगण परमेश्वररूप वृक्षकी ही शाखायें हैं और मूलके तृप्त होनेसे शाखाओंका तृप्त होना लोकमें प्रसिद्ध ही है। अतः आगेके दो पद्योंसे परमेश्वरकी प्रसन्नताके साधनका निरूपण करते हैं—

वात्सल्यं यदि सततं प्रवर्तयेथा
भूतानामिह करुणाविशारदः सन् ।
निःसङ्गो हृदि नितरामपि स्वशक्त्या,
लोकानामुपकृतये घटस्व विद्वन् ॥ ५३ ॥

यदि करुणापूर्ण हृदयके कारण तुम प्राणियोंपर दया रखते हो तो विवेक-वैराग्यादिके बलसे सदा नि सङ्ग रहकर लोगोंका उपकार करो ॥ ५३ ॥

क्योंकि—

नैतस्मादधिकमिहास्ति विद्वदर्हं
विद्याभिर्य उ जनतातमोनिवर्हः ।
क्लिश्यन्ते ननु जगता कृते महान्तो
दृष्टान्तोऽमृतकिरणादयस्तवामी ॥ ५४ ॥

विद्याके द्वारा जनताके हृदयाकाशमें फैले हुए अन्धकारको दूर करनेसे बढ़कर विद्वानोंके लिये कोई और कर्त्तव्य नहीं है। देखो, सूर्य चन्द्रमा आदि संसारके कारण ही राहुप्रभृतियोंसे पीडित होते हैं।

भाव यह है कि जैसे यज्ञदत्तके कार्यमें देवदत्त सहायता करे तो वह यज्ञदत्तका प्रिय बन जाता है इसी प्रकार दीन दु खी पुरुषोंकी

काम-काज और धनादिके द्वारा यथाशक्ति रक्षा करनेवाला पुरुष परमेश्वरका प्रिय हो सकता है, क्योंकि दीनरक्षा ईश्वरका कर्तव्य है और ईश्वर कर्तृक कार्यके सम्पादनमें उसकी सहायता करता है। दूसरा कारण यह भी है कि जिस प्रकार किसी राजसभाका सदस्य निर्वाचित होनेके लिये प्रार्थी को संमतियोंकी संख्या बढ़ानेके लिये धनदानादि नाना प्रकारसे जनताको प्रसन्न करना पड़ता है। इसी प्रकार परमेश्वरकी सभाके सभ्य बननेके लिये हमको भी अधिक सम्मतियां प्राप्त करनेके लिये जनताकी यथाशक्ति सेवा करनी चाहिये। तीसरे हेतु यह है कि जीवसमष्टिके अभिमानीका नाम परमेश्वर है जब हम समष्टि जनताकी सेवा करेंगे तो अवश्य उसके अभिमानी ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न होंगे, जैसे कि पुत्रकी रक्षा करनेसे उसमें पुत्रत्वाभिमान रखनेवाला पिता प्रसन्न होता है। इस लिये भगवत्कृपाकी इच्छा रखने वाले पुरुषोंको परोपकारमें तत्पर रहना चाहिये॥ ५४

परन्तु जो पुरुष किन्हीं कारणोंसे इस साधनका अनुष्ठान न कर सकें उनके प्रति आगेके दो श्लोकोंसे साधनान्तरका उपदेश करते हैं—

भीतश्चेदसि जनतासमागमेभ्यो

रागादेर्लघु मनसि प्रवर्तकेभ्यः।

त्यक्त्वाऽरं जनसमितिं तदा विविक्तं

सेवस्वामलधिषणो जहत्समस्तम्॥ ५५॥

चित्तमें रागद्वेषादिके उत्पन्न करने वाले सङ्गसे यदि तुम डरते हो तो जनसमाज तथा वित्तपुत्रादिके संगका त्याग करके शीघ्र ही निर्मलचित्त हो एकान्त प्रदेशका सेवन करो ॥ ५५ ॥

एकान्तप्रदेशमें रहनेसे ही कोई सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सदा एकान्तमें ही रहने वाले सिंहव्याघ्रादि अन्य जीवोंमें कोई सिद्धि नहीं देखी जाती। किन्तु एकान्तमें रहकर साधन करना ही सिद्धिका जनक है यह बात अग्रिम श्लोकमें कही जाती है—

> अद्वैतामृतमनिशं श्रुतिप्रपाभ्यो
>
> निःशङ्कं प्रणिपिबतां प्रमोदवन्ति ।
>
> शान्तानामथ सततं समाधि भाजां
>
> धन्यानामिह विजने वियन्त्यहानि ॥ ५६ ॥

वे पुरुष धन्य हैं जो प्रतिदिन निःशङ्कमनसे शान्तिपूर्वक श्रुतिरूप प्याउसे अद्वैतामृतका पान करते हुए ध्यानसमाधिके साधनद्वारा एकान्तदेशमें आनन्दपूर्वक अपना काल व्यतीत करते हैं।

भाव यह है कि जिस प्रकार व्यायाम करनेसे अवश्य शक्तिकी वृद्धि होती है, परन्तु वही व्यायाम अत्यन्त दुर्बल पुरुषको मृत्युकी ओर ले जाता है इसी प्रकार परोपकार भी उन्हीं पुरुषोंको उपयोगी हो सकता है जिनके चित्तमें सङ्गजन्य दोषोंका संचार

न हो सके। परन्तु जिन अधिकारियोंके हृदय अतीव कोमल होनेके कारण संगदोषसे दूषित हो सकते हैं उनके लिये परोपकार लाभप्रद नहीं होगा। इसलिये ऐसे पुरुषोंको एकान्त प्रदेशमें ही रहकर साधनानुष्ठान करना उचित है ॥ ५६ ॥

जब दीर्घकाल तक एकान्तमें रहकर भगवत्स्मरणपूर्वक श्रवणमननादिका यथावत् अनुष्ठान किया जायगा तब अवश्य आत्मसाक्षात्कार होगा और फिर पुरुषको परमस्वातन्त्र्यका लाभ *होगा तथा किसी भी साधनानुष्ठानके लिये बाधित नहीं होना* पड़ेगा—यह कहनेके लिये अगले श्लोककी प्रवृत्ति है—

निर्भीको मतिदृढताबलाद्यदि त्वं
स्वच्छन्दं तदु विहरस्वरूपभूतम् ।
निःशेषं परिकलयन्निहाधिरोपा-
दुद्भातं तव किमिदं प्रदूषयेत ॥ ५७ ॥

यदि तुम चित्त दृढ़ होनेके कारण जनसंगसे निर्भय हो तो सम्पूर्ण विश्वको अपना ही स्वरूप देखते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक यथेच्छ विचरो। अज्ञानजन्य भ्रमप्रतीतिसे भासनेवाला यह मिथ्या जगत् तुम्हारा क्या बिगाड़ सकता है ?

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नख और दाढ़ोंसे रहित बूढ़े सिंहोंसे भरे हुए वनमें विचरनेसे पुरुष तभीतक भयभीत रहता है जबतक कि उसे इस रहस्यका पूर्ण परिचय न हो। परन्तु

जब वह इस भेदको जान लेता है तब उसे अरण्यभ्रमणमें स्वातन्त्र्य हो जाता है। इसी प्रकार आत्मबोधसे पहले पुरुष जगत्को भयानक समझता हुआ उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक विहार नहीं कर सकता। परन्तु आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर जब उसे जगत्का रहस्य विदित हो जाता है तब वह परम स्वातन्त्र्य लाभ करके यथेच्छ संसार विहारसे होने वाले सुखका अनुभव कर प्रारब्धक्षयके पश्चात् कैवल्यपदको प्राप्त करता है। इस लिये ऐसे परमस्वातन्त्र्यजनक आत्मबोधके लिये प्रत्येक पुरुषको यत्नशील होना चाहिये ॥ ५७ ॥

यद्यपि 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे आत्मज्ञान निश्चितरूपसे सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी अभिव्यक्ति करने वाला होता है तथापि मुमुक्षुओंकी श्रद्धा बढानेके लिये यह कहनेके उद्देश्यसे कि ये दोनो बातें विद्वान्के अनुभवसे भी सिद्ध हैं आगेके ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है। इसमे पहले श्लोकसे सारे अनर्थोंके प्रधान कारण रागके अभावका वर्णन किया जाता है—

रागः क्वावस्थितः स्यान्मयि विमलतमश्रीनभःसन्निभेऽस्मिन्
यात्वेषा रागरेखा स्फुरति परिवता शक्रकोदण्डतुल्या ॥
साऽभ्राभे स्वान्तखण्डे विलसतु सुतरां मेघसंसर्गशून्ये
कोद्रिक्तिः कापरिक्तिर्गगन इव मयि स्वान्ततोऽत्यन्तदूरे ॥ ५८

आकाशके समान अत्यन्त निर्मल और सर्वदा असग मुझमें

राग किस प्रकार रह सकता है जो बिजलीकी चमकके समान रागकी रेखा दिखाई पडती है वह मेघरूप अन्त करणमें ही स्थित है सो उसका धर्म होनेसे सदा उसीमे रहे। परन्तु मेघके सम्पर्कसे सर्वथा शून्य आकाशके समान अन्तःकरणसे सर्वथा असम्बद्ध मुझमे किसी प्रकारका उत्कर्षापकर्ष नहीं हो सकता।

भाव यह है कि जिस प्रकार मेघमण्डलमें चमकने वाली बिजलीकी रेखा अविवेकियोको आकाशमे ही स्थित जान पडती है, क्योकि उनको आकाशकी असंगताका ज्ञान नहीं होता, किन्तु वही विवेकियोकी दृष्टिसे मेघमे स्थित है उसी प्रकार काम सङ्कल्पो विचिकित्सा ········इत्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुतिके अनुसार अन्त करणमें रहने वाले भी रागादि अज्ञानियोको आत्मामे जान पड़ते हैं। और वे ही 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' 'अनण्वह्रस्वमदीर्घम इत्यादि श्रुतियोद्वारा निर्गुण और असग आत्माके स्वरूपका निश्चय होने पर ज्ञानीको अन्त करणमे स्थित दिखाई देते हैं। इस लिये ज्ञानी अपनेमे रागादिका अभाव अनुभव कर सकता है ॥ ४८ ॥

यहा यह शका हो सकती है कि यदि ज्ञानीमे रागादि नहीं है तो देह और इन्द्रियोकी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये, क्योंकि 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इत्यादि स्मृतिके अनुसार उनकी प्रवृत्ति भी काम या रागके कारण ही होती है। परन्तु उनके भी देहादिकोकी चेष्टा तो प्रत्यक्ष देखी जाती है इसलिये उसके प्रयोजक रागका अस्तित्व भी ज्ञानीमे अवश्य मानना चाहिये। इस शङ्काकी निवृत्ति करनेके लिये आगामी श्लोक है—

चेष्टन्ते चेदिमानि प्रतिनियतगुणं चक्षुरादीनि नित्यं
चेष्टन्तां काममस्मिन् मयि सकलजगच्चेष्टमानत्वहेतौ ।
चेष्टेरन्नो कुतोऽयस्यचलइव चलत्यस्म्ययस्क्रान्त एव
भिन्नश्चात्यन्तमेभ्यस्तदिह मयि कथं पुण्यपापावलेहः ५६

यदि देह तथा चक्षु आदि इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंकी ओर प्रवृत्त होती हैं तो हों। सम्पूर्ण जगत्की चेष्टाके हेतुभूत आत्मचैतन्यकी सन्निधिमें जड़वर्गकी चेष्टा होना उपपन्न ही है। परन्तु उनकी प्रवृत्तिसे आत्मामें रागद्वेषादि तथा उनके कारण होने वाले पुण्यपापकी प्राप्तिकी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि वह लोहके चलने पर भी अचल रहनेवाले चुम्बकके समान स्वयं सब प्रकारके विकारोंसे रहित है और बाह्य देहादिकोंसे अत्यन्त विलक्षण अर्थात् प्रत्यक् है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार चुम्बककी सन्निधि होनेपर लोहा निश्चल नहीं रह सकता, उसकी चेष्टा अनिवार्य हो जाती है, फिर भी चुम्बकमें उसकी प्रवृत्तिके प्रयोजक रागादिका आरोप नहीं किया जा सकता उसी प्रकार आत्मचैतन्यकी सन्निधिमें देहादिकों की चेष्टा होना आवश्यक तथा युक्त ही है फिर भी उनकी चेष्टाके प्रयोजक रागादिका आत्मामें अङ्गीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर आत्मामें प्रत्यक्त्वकी हानि होकर परात्त्व-दृश्यत्वादि अनिष्ट धर्मोंका प्रसङ्ग होगा। अतः ज्ञानीमें रागका अभाव मानना उपपन्न ही है ॥ ५६ ॥

पहले जो चुम्बकके दृष्टान्तसे आत्मचैतन्यमे सब विकारोके अभावका प्रतिपादन किया है यह उपपन्न नहीं है, क्योकि चुम्बक तो एक पत्थर ही है इसलिये उसमे रागादि का न होना उपपन्न ही है। परन्तु आत्मामे इस दृष्टान्तसे रागादि का अभाव मानना सङ्गत नहीं है। दूसरे 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इस विद्वानोकी उक्तिको अविद्वद्विषयक बताकर इसका अकारण ही संकोच करना भी न्यायसङ्गत नहीं है, इसलिये ज्ञानीमे भी राग होना आवश्यक है इसका समाधान अग्रिम श्लोकसे कहते हैं :—

योऽयं रागोऽस्मदीयोन खलु स सुहिराणामिवानात्मदृष्ट्या
किन्त्वात्मैवेदमम्भोगतमिह सलिलं फेनमुख्यं यथैवम् ।
आत्मन्यध्यस्तभावादिति निपुणधिया पश्यतो रञ्जना मे
क्वात्मप्रेमाणमेनं यदि तु जडधियो रागमाहुस्ततः किम्
॥ ६० ॥

ज्ञानीका राग अज्ञानियोके समान अनात्मदृष्टिमूलक नहीं होता, क्योकि उसकी दृष्टिमे सम्पूर्ण जगत् आत्मामे कल्पित होने के कारण आत्मस्वरूप ही है, जिस प्रकार कि तरंगफेनादि जलमें कल्पित होनेके कारण जलसे अभिन्न है इस तरह सबको आत्म दृष्टिसे देखनेवाले ज्ञानीको किसमे राग हो सकता है और जो प्रवृत्तिका प्रयोजक थोडा-सा रागाभास दिखायी देता है, वह भी राग नहीं किन्तु आत्मप्रेम ही है, यदि उसीको अविवेकी पुरुष राग कहते हैं तो कहें, इससे ज्ञानी रागी नहीं बन सकता।

भाव यह है कि जिस प्रकार अपराध करनेपर पिता पुत्रको दण्ड देता है किन्तु इसमे पुत्रके प्रति पितामें द्वेषकी कल्पना नहीं की जा सकती और यदि दूध पीनेवाला बालक दीपकलिकाको पकड़नेके लिये हाथ बढ़ाता है तो इसमें भी राग नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार ज्ञानीमें भी प्रवृत्ति-निवृत्तिका निमित्तभूत राग अथवा द्वेष नहीं हो सकता। परन्तु जैसे धोये हुए लशुनके पात्र में भी उसकी गन्ध बनी रहती है वैसे ही ज्ञानीके अन्तःकरणमें भी रागद्वेषादिकी एक वासना बनी रहती है, जिसे रागाभास कहते हैं, क्योंकि वह वस्तुतः राग नहीं है परन्तु रागके समान प्रतीत होती है। उसी रागाभासको लेकर विद्वान्की प्रवृत्ति बन सकती है और प्रवृत्तिमात्रमें कामप्रयुक्तत्वप्रतिपादक वाक्य भी चरितार्थ हो सकता है॥ ६०॥

ज्ञानीमें भी रागद्वेषकी वासना रहती है—ऐसा सुनकर आशङ्का हो सकती है कि फिर तो ज्ञानीमें भी कालान्तरमें राग-द्वेष उत्पन्न होकर जन्म मरणादि सब प्रकारका अनर्थ उत्पन्न करदेंगे, क्योंकि बालकमें रागद्वेषके संस्कार विद्यमान रहते हैं इसीसे युवावस्थामें उसको सारे दोष घेर लेते हैं, अतः ब्रह्मात्मैक्यबोध भी आत्यन्तिक पुरुषार्थका साधन नहीं है। इसका समाधान अगले पद्यसे करते हैं:—

नाहं मूर्खो न विद्वान् न च जरठतनुर्नैव बालोयुवा वा,
नैव स्त्री नो पुमान्वा सततमथ मयि क्लीबभावोऽपिनास्ति

क्योंकि यद्यपि समुद्रमें रात-दिन अनन्तजलपूर्ण नदियोंका प्रवेश हो रहा है फिर भी उसे नदीप्रवेशका अभिलाषी कहनेमें कौन समर्थ है ?

तात्पर्य यह है कि इच्छा सर्वदा अप्राप्त आनन्दके लिये ही हुआ करती है जो पदार्थ प्राप्त न होने पर भी आनन्दरूप नहीं होता उसकी भी इच्छा नहीं होती। तथा आनन्दरूप होने पर भी यदि प्राप्त होता है तो भी वह इच्छा का विषय नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि इच्छा अप्राप्त आनन्दके लिये ही होती है आत्मासे भिन्न सारे पदार्थ आगे कहे जाने वाली युक्ति और श्रुतिके अनुसार दुःखरूप हैं, अतः आत्मा ही परमानन्दस्वरूप है। वह आत्मा आत्मा होनेके कारण ही सदा प्राप्त है, क्योंकि अनात्म वस्तुएँ ही अप्राप्त हो सकती हैं। पाने वालेका स्वरूप होनेके कारण आत्मा कभी अप्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये ज्ञान द्वारा नित्य निरतिशयसुखस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होनेपर विद्वान्में कोई इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती॥ ६२॥

आत्मा यदि परमानन्दस्वरूप हो तो उसका ज्ञान होनेके पश्चात् वेत्तामें सम्पूर्ण कामनाओंका अभाव किसी प्रकार सम्भव हो भी सकता है परन्तु यदि उसकी आनन्दरूपता ही सिद्ध न हो सके तो परमानन्दरूपता तो असम्भव माननी ही होगी। प्राणिमात्रकी विषयोन्मुख प्रवृत्तिको देखकर हम कह सकते हैं कि आत्मा सुखस्वरूप नहीं है। यदि वस्तुतः यह सुखरूप है तो सदा प्राप्त होनेके कारण उसका स्वरूपभूत सुख भी प्राप्त ही है,

अतः प्राणियोंकी विषयाभिमुखी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु उनकी ऐसी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है इसलिये आत्मा सुखरूप नहीं है। अतः आत्मज्ञानसे विद्वान्‌की सारी अभिलाषाओं का विलय हो जाना शशशृङ्गके समान असम्भव है। इस आशङ्का की निवृत्तिके लिये आगेका श्लोक है—

प्रेयानात्मा समस्मादिति विदितमिदं सर्वलोकेच वेदे
सर्वं चाप्येतदात्मा गमितमिदमपि श्रौत वाक्यैः सहस्रैः।
तस्मात्प्रेमास्तुयत्र क्वचिदपि ममसद्ब्रह्मरूपो न रागो
नागस्तस्मान्मदीये निजविमलतनौ प्रेमणिप्रापणीयम् ।६३

समस्त अनात्म पदार्थोंकी अपेक्षा आत्मा ही परम प्रिय है यह सब वेदोंमें और लोकमें भी प्रसिद्ध है; और यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व आत्मस्वरूप है यह भी सैंकड़ों सहस्रों वेदवाक्योंसे निर्णय हो चुका है। इसलिये जिस किसी भी वस्तुमें मेरा प्रेम है वह ब्रह्मस्वरूप ही है, राग नहीं है। ऐसे अत्यन्त निर्मल और स्वस्वरूपभूत प्रेममें किसी भी दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भाव यह है कि प्रेमका विषय आनन्द ही होता है, जिस वस्तुको हम दुःखरूप समझते हैं उसमें कदापि हमारा प्रेम नहीं हो सकता। आत्मा सबके प्रेमका आश्रय है यह बात बालकसे लेकर बूढ़े तक सभीके अनुभवसे सिद्ध है क्योंकि सभी आत्माका अस्तित्व चाहते हैं, कोई नहीं चाहता कि 'मैं नष्ट होजाऊँ' परन्तु स्वभावतः सबकी ऐसी ही इच्छा देखी जाती है कि मैं सदैव जीवित

किन्त्वेषामेक आत्मा विगतगुणगणो दोषलेशैश्चशून्यो
नित्यानन्दश्चिदात्मा तदिहमयिकुतस्त्यागरागौभवेताम् ।६१

मैं न तो मूर्ख हूं और न विद्वान् ही हूँ, क्योंकि मूर्खत्व और विद्वत्त्व दोनों बुद्धिके धर्म हैं और मैं बुद्धिसे सर्वथा भिन्न हूं। वृद्ध, बाल, युवा भी मैं नहीं हूं, क्योकि वृद्धावस्था, शैशव और यौवन देहके धर्म हैं और मेरा देहसे कोई सम्पर्क नहीं है। मैं स्त्री, पुरुष या नपुंसक भी नहीं हूँ क्योंकि ये इन्द्रियोंके धर्म हैं और मैं इन्द्रियोंसे पृथक् हूँ तथा देह, इन्द्रिय और बुद्धि इन सबका प्रेरक एवं सब प्रकारके गुणदोषसे शून्य सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। तब मुझमें रागद्वेषादि कैसे रह सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तपे हुए लोहपिण्डमें जो दाहकता है उसमें लोहे और अग्निका तादात्म्याध्यास ही कारण है, यदि लोहपिण्डसे अग्निको पृथक् कर दिया जाय तो फिर उसको दाहक नहीं कह सकेंगे, इसी प्रकार आत्मामें भी रागद्वेषादि और उनके कारण होनेवाले सम्पूर्ण अनर्थोंकी प्राप्तिका कारण देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके साथ आत्माका तादात्म्याध्यास ही है। आत्मज्ञानाग्निसे जब अध्यास और उसका कार्य भुन जाता है तब वह भस्मीभूत होकर विद्यमान रहता हुआ भी अनर्थ पैदा करनेवाला नहीं हो सकता। और स्वरूपसे वर्तमान रहनेके कारण देहस्थितिके लिये आवश्यक प्रवृत्तिको करने वाला भी हो सकता है, जैसे भुना हुआ चना अंकुरकी उत्पत्तिमें असमर्थ होनेपर भी खानेके काममें तो आ ही सकता है। शिशुका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें मूल

कारण अध्यासकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये भस्मसे ढकी हुई अग्निके समान कालान्तरमें उसमें सभी दोष उत्पन्न हो सकते हैं। इसके विपरीत ज्ञानीमें सारे अनर्थों का प्रधान कारण अध्यास नष्ट हो जाता है इसलिये उसमें कालान्तरमें भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता, वह सर्वथा परमानन्दमें ही मग्न रहता है। अतः ज्ञान परमार्थका साधन है, इसमें अणुमात्र भी दोष नहीं दिया जा सकता ॥ ६१ ॥

पीछे यह बात कही गयी है कि आत्मा आकाशके समान असङ्ग है, इसलियेवह आसक्तिके कारण होने वाला राग-द्वेषका अधिकरण नहीं बन सकता। अब अगले श्लोकसे यह कहा जाता है कि आप्तकाम होनेके कारण भी उसमें इच्छादि नहीं हो सकते,

मग्यानन्दैकसिन्धौ कथमवतरतु प्रेप्सयाऽऽनन्द विन्दु-
र्निन्दुः कोरत्नपुञ्जान् भवति मतियुतः काममिच्छुर्वराटम्
नाटन्तीह त्विमास्ता जलधिमधिजलं नापगा भूरिपूराः
शूराः के तत्र वक्तुं जलनिधिमभिलाषेण युक्तं तथाऽत्र ॥६२

केवल एक अनन्त आनन्दके समुद्र मुझमें वैषयिक आनन्दकी बूंदोंको पानेकी इच्छा किस प्रकार हो सकती है। कौन बुद्धिमान् महान् रत्नराशिको पाकर फिर कौडीके लिये लालायित होगा ? फिर भी यदि प्रारब्धके कारण मेरेमें विषयप्राप्ति प्रतीत हो रही है तो इतने हीसे मुझमें कामकी कल्पना नहीं की जा सकती,

क्योंकि यद्यपि समुद्रमें रात-दिन अनन्तजलपूर्ण नदियोंका प्रवेश हो रहा है फिर भी उसे नदीप्रवेशका अभिलापी कहनेमें कौन समर्थ है ?

तात्पर्य यह है कि इच्छा सर्वदा अप्राप्त आनन्दके लिये ही हुआ करती है जो पदार्थ प्राप्त न होने पर भी आनन्दरूप नहीं होता उसकी भी इच्छा नहीं होती। तथा आनन्दरूप होने पर भी यदि प्राप्त होता है तो भी वह इच्छा का विषय नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि इच्छा अप्राप्त आनन्दके लिये ही होती है आत्मासे भिन्न सारे पदार्थ आगे कहे जाने वाली युक्ति और श्रुतिके अनुसार दुःखरूप हैं, अतः आत्मा ही परमानन्द-स्वरूप है। वह आत्मा आत्मा होनेके कारण ही सदा प्राप्त है, क्योंकि अनात्म वस्तुएँ ही अप्राप्त हो सकती हैं। पाने वालेका स्वरूप होनेके कारण आत्मा कभी अप्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये ज्ञान द्वारा नित्य-निरतिशयसुखस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होनेपर विद्वान्से कोई इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती॥ ६२॥

आत्मा यदि परमानन्दस्वरूप हो तो उसका ज्ञान होनेके पश्चात् वेत्तामें सम्पूर्ण कामनाओंका अभाव किसी प्रकार सम्भव हो भी सकता है परन्तु यदि उसकी आनन्दरूपता ही सिद्ध न हो सके तो परमानन्दरूपता तो असम्भव माननी ही होगी। प्राणिमात्रकी विषयोन्मुख प्रवृत्तिको देखकर हम कह सकते हैं कि आत्मा सुखस्वरूप नहीं है। यदि वस्तुतः यह सुखरूप है तो सदा प्राप्त होनेके कारण उसका स्वरूपभूत सुख भी प्राप्त ही है,

अतः प्राणियोंकी विषयाभिमुखी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु उनकी ऐसी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है इसलिये आत्मा सुखरूप नहीं है। अतः आत्मज्ञानसे विद्वान्‌की सारी अभिलाषाओं का विलय हो जाना शशशृङ्गके समान असम्भव है। इस आशङ्का की निवृत्तिके लिये आगेका श्लोक है—

प्रेयानात्मा समस्मादिति विदितमिदं सर्वलोकेच वेदे
सर्वं चाप्येतदात्मा गमितमिदमपि श्रौत वाक्यैः सहस्रैः।
तस्मात्प्रेमास्तुयत्र क्वचिदपि ममसद्ब्रह्मरूपो न रागो
नागस्तस्मान्मदीये निजविमलतनौ प्रेमणिप्रापणीयम् ।६३

समस्त अनात्म पदार्थोंकी अपेक्षा आत्मा ही परम प्रिय है यह सब वेदोंमें और लोकमें भी प्रसिद्ध है; और यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व आत्मस्वरूप है यह भी सैंकड़ों सहस्रों वेदवाक्योंसे निर्णय हो चुका है। इसलिये जिस किसी भी वस्तुमें मेरा प्रेम है वह ब्रह्मस्वरूप ही है, राग नहीं है। ऐसे अत्यन्त निर्मल और स्वस्वरूपभूत प्रेममें किसी भी दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भाव यह है कि प्रेमका विषय आनन्द ही होता है, जिस वस्तुको हम दुःखरूप समझते हैं उसमें कदापि हमारा प्रेम नहीं हो सकता। आत्मा सबके प्रेमका आश्रय है यह बात बालकसे लेकर बूढ़े तक सभीके अनुभवसे सिद्ध है क्योंकि सभी आत्माका अस्तित्व चाहते हैं, कोई नहीं चाहता कि 'मैं नष्ट होजाऊँ परन्तु स्वभावतः सबकी ऐसी ही इच्छा देखी जाती है कि मैं सदैव जीवित

रहूँ। सब लोग अपने प्रिय पदार्थका ही अस्तित्व चाहा करते हैं, अप्रियका अस्तित्व किसी भी प्राणीको अभीष्ट नहीं होता, इसलिये सब प्राणियोंको अपना अस्तित्व अभिलषित होनेके कारण आत्मा सर्वप्रिय है और इसीसे वह आनन्दरूप भी सिद्ध होता है। पुत्र, स्त्री, धन आदि जितने भी प्रिय पदार्थ हैं वे सब आत्मानुकूल होनेके कारण ही प्रिय हैं। अपनेसे प्रतिकूल होनेपर पुत्रादि भी प्रत्येक प्राणीके लिये द्वेष्य होकर हेय हो जाते हैं। आत्मामें प्रेम स्वतः सिद्ध है किसी अन्य पदार्थकी अनुकूलताके कारण नहीं है। अतः वह परमप्रेमका विषय होनेके कारण ही परमानन्दस्वरूप है। इसलिये उसका ज्ञान होने पर इच्छा काम रागादि सभीका अभाव हो जाना सर्वथा न्याय्य है॥ ६३॥

साधक सहज हीमें समझ सकें—इस उद्देश्यसे अगले श्लोकमें समस्त साधनोंका क्रम निरूपण किया जाता है—

जातं चेतो मदीयं वियदमलमुदैत् पूर्णइन्दुर्विचार-
स्तत्त्वालोकः समन्ताद् व्यसरदरमथो शान्तिरातन्यतेयम्
पापस्तापोविलीनोऽमृतमिवपरितः स्यन्दतेऽमन्दमेतद्
धन्याकन्याणरात्रिः परमवसितवान् वासरोऽसौप्रपञ्चः॥

मेरा चित्तरूपी आकाश निर्मल होगया, विचाररूप पूर्णचन्द्र-का उदय हुआ और चारों ओर तत्त्वज्ञानरूप प्रकाश फैल गया। उसके पश्चात् दुःखप्रद तापका अभाव होकर परमशान्तिका लाभ हुआ और चारों ओर अनन्त अमृतका प्रवाह बहने लगा। अब

प्रपञ्चरूप प्रचण्डदिनका अवमान होनेसे सब-ओर अत्यन्त तीव्र पुण्योंसे प्राप्त होने वाली कल्याणरूप रात्रि विराजमान है।

तात्पर्य यह है कि जिसको कि शास्त्रमें परमपद नामसे कहा है और जिसे पानेकी प्राणिमात्रको इच्छा है उस तापत्रितयके आत्यन्तिक विलय तथा नित्यनिरतिशयानन्द के आविर्भाव का प्रधान साधन यद्यपि श्रवण मनन निदिध्यासनका वार-बार अभ्यास करना ही है, तथापि अन्तरायोंके रहते हुये साधन फलजनक नहीं होता, जिस प्रकार कि दाहका कारण होने पर भी अग्नि मणिमन्त्र और औषधादि प्रतिबन्धक रहनेके समय दाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार जबतक साधकके अन्त.करणमें रागद्वेषोत्पादक पापरूप मल तथा विषयप्रवणतारूप विक्षेप वर्तमान है तबतक प्रथम तो श्रवणादि होना ही असम्भव है और यदि किसी प्रकार हो भी गया तो उससे कोई फल होना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक साधकको मलविक्षेप रूप अन्तरायकी निवृत्ति के लिये सबसे पहले अथवा श्रवणादि साधनोंके साथ परोपकार एवं ईश्वराराधनादि पुण्यकर्मोंका आलम्बन अवश्य रखना चाहिये। ऐसा करनेसे ही उसके श्रवणादि तत्त्वबोधको पैदा करनेमें समर्थ हो सकेंगे। ऐसा होनेपर फिर साधकको परमपद प्राप्तिमें कोई विलम्ब नहीं रहेगा॥ ६४॥

शास्त्रीय साधनोंके अनुष्ठानसे परमकृतकृत्यताकी प्राप्ति अवश्य होती है यह दिखानेके लिये अगले श्लोकसे अनर्थनिवृत्ति और परमानन्दानुभवरूप धन्यताका उल्लेख करते हैं—

लीनः सोऽयं प्रपञ्चो यदधि मम पुराऽभून्महत्कौतुकित्वं
शान्तास्तास्ताः समीहा अनवरतमहो-
याभिरुच्चाटितोऽहम् ।
उद्वेगाः सर्व एते विलयमुपगताः शीतमासीन्मनो मे
धन्योऽस्म्येकं समन्तात्स्फुरति मम मह-
ज्ज्योतिरानन्दभूतम् ॥ ६५ ॥

जिस प्रपञ्चके विषयमें मैं सोचता था कि 'यह सत्य है या मिथ्या, यदि सत्य है तो इसकी निवृत्तिके लिये चेष्टा करना व्यर्थ है, क्योंकि सत्य वस्तुकी कभी निवृत्ति नहीं हो सकती और यदि मिथ्या है तो ज्ञानके अनन्तर प्रतीत नहीं होना चाहिये क्योंकि रज्जुका साक्षात्कार हो जानेपर फिर सर्प प्रतीत नहीं होता। यदि कहें कि निरुपाधिक भ्रममें ही ज्ञानके पश्चात् अप्रतीति का नियम है सोपाधिक भ्रमका विषय होनेके कारण प्रमाके पश्चात् भी प्रपञ्चकी प्रतीति हो सकती है, तो उपाधिके रहते हुये तो ब्रह्म साक्षात्कार होना ही असम्भव है, क्योंकि जपाकुसुमके रहते हुये 'श्वेतः स्फटिकः' ऐसी प्रत्यक्ष प्रमा कभी नहीं देखी जाती और उपाधिकी निवृत्ति ब्रह्मसाक्षात्कारके बिना नहीं होगी, इसलिये परस्पराश्रयत्वरूप दोषयुक्त होनेके कारण ब्रह्मज्ञान होना सर्वथा असम्भव है' वह मेरा महान आश्चर्य अब लीन हो गया। तथा जिन इच्छाओंकी पूर्तिके लिये मैं सर्वथा अस्थिर तथा उद्विग्न रहा करता था वे इच्छाएँ और उद्वेग भी

सबके सब एक साथ विलीन हो गये और मेरा चित्त परम शान्त हो गया। अब चारों ओर मुझे स्वयंप्रकाश आनन्द ही प्रतीत हो रहा है, इस लिये कृतकृत्य तथा ज्ञातज्ञेय होनेके कारण मैं परम धन्य हूँ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मदिरोन्मत्त पुरुष नशेमें मतवाला रहनेके समय सहस्रों युक्तियोंसे भी मदिराके स्वरूपको नहीं समझ सकता और नशा उतरने पर बिना किसी तर्कके ही उसे स्वयं ही उसके स्वरूपका निश्चय हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार होनेसे पहले केवल युक्तिद्वारा माया और उसके कार्य का स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता परन्तु आत्मज्ञान हो जाने पर इस संसारका स्वरूप करामलकवत् भासने लगता है। इसीलिये श्रुति कहती है कि 'छिद्यन्ते सर्वे संशयास्तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार हो जाने पर सारे संशयोंका अभाव हो जाता है। अतः प्रत्येक प्राणीको कुतर्कका तिरस्कार कर आत्मज्ञानके साधनोंके अनुष्ठानमें तत्पर हो जाना चाहिये ॥ ६५ ॥

पूर्व ग्रन्थमें यह बात कही गयी है कि अधिक आनन्द होने पर अल्प आनन्दमें राग नहीं हो सकता। अगले श्लोकमें यह कहते हैं कि विषय न रहने पर उसमें राग भी नहीं रहता—

कामः क्व स्यान्मदीयो जगदखिलमिदंज्ञातमत्यन्त तुच्छं
कामाभावे तु कोपः कथमिव विभवेत्कारणं सोऽस्य यस्मात्।

लोभः सत्यत्वमूलो जगति च वितथे सत्यताभ्रान्तिरूपा
मोहोभ्रान्तेर्निदानं सकलमिदमगाद्वीतशोकः शिवोऽहम् । ६६॥

जगत्को अत्यन्त असार समझ लेनेपर मुझे किस विषयमें काम हो सकता है ? क्योकि आकाश कुसुमरूप अत्यन्त तुच्छ पदार्थोंमें किसीकी इच्छा नहीं देखी जाती। कामका अभाव हो जानेपर क्रोध भी नहीं हो सकता क्योकि अपनी कामनाके विषय को अपने अधीन कर लेने वालेके प्रति क्रोध होता है; काम्य वस्तुके न रहने पर क्रोधका भी कोई विषय नहीं रहता लोभका कारण पदार्थोंमें सत्यता बुद्धि करना है, यह असत् जगत्में सत्यता पर गम्भीर विचार करनेसे भ्रमरूप सिद्ध होती है और भ्रमका हेतु अधिष्ठानभूत आत्माका अज्ञान है। जब आत्मप्रभासे मोहकी निवृत्ति हो गयी तो उसके कारण होनेवाली भ्रान्ति भी जाती रही और भ्रान्तिके दूर होने पर उसका कार्य लोभ भी कभी नहीं ठहर सकता। अतः मैं सकलदोषरहित होकर शिवस्वरूपसे ही स्थित हूँ।

भाव यह है कि जिस प्रकार इन्धनका अभाव होनेपर अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मबोधके अनन्तर जगत्का अभाव हो जानेपर निर्विषय कामक्रोधादि स्वयं ही जड़कटे हुए वृक्षके समान नष्ट हो जाते हैं। अतः सारे अनर्थोंके निवर्त्तक आत्मबोधके लिये प्रत्येक पुरुषको प्रयत्न करना चाहिये ॥ ६६ ॥

काम-क्रोधकी निवृत्ति होनेपर स्वयं ही आत्माका भान हो जाता है इसके लिये साधकको अपेक्षा नहीं करनी पड़ती यह बात आगेके दो पद्योंसे कही जायगी—

शान्ते चेतस्यकस्मादुद्गमदमितं ज्योतिरानन्दपूर्णं
तूर्णं मोहान्धकारो व्यगलदथ सुधौघाः समन्तात्स्रवन्ति।
नष्टाः शोकादयोऽमी विकलितमनसो नान्यदालोकयामः
सत्यं चाद्यन्तहीनं प्रवितितमतुलं केवलं ब्रह्म भाति ॥ ६७ ॥

कामक्रोधादि विक्षेपके हेतुओंका अभाव होनेपर जब चित्त शान्त हुआ तो उसमें आनन्दरूप ज्योतिका स्वयं ही आविर्भाव हो गया जिसके कारण अज्ञानरूप अन्धकारकी निवृत्ति हो जानेसे चारों ओर आनन्दामृतका प्रवाह बहने लगा है, तथा शोकमोहादि चोरोंका दल व्याकुल होकर नष्ट हो गया है। अब केवल सत्य, आद्यन्तरहित, सर्वव्यापी अद्वितीय ब्रह्म ही सर्वत्र प्रतीत हो रहा है, उसमें भिन्न दूसरी वस्तुका तो कहीं नाम भी शेष नहीं है ॥ ६७ ॥

ब्रह्मैवोर्द्ध्वं तथाधः प्रसृतमथ पुरस्ताच्च पश्चादपीदं
ब्रह्मैवैदक्तथाऽवाग्दिशि विदिशि समं व्याप्तमेकं सदैतत्।
नित्यानन्दोरुतेजोऽमृतविविधवपुर्भ्राजतेमायायाऽदो
वातोद्भूतं यथाऽम्भो बहुविधवपुषा नान्यत्[illegible] ॥६[illegible]

सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मही ऊपर नीचे तथा इधर उधर सारी दिशाविदिशाओंमे एक रस होकर पूर्ण है। वही ब्रह्म परमार्थ-दृष्टिसे एक होने पर भी मायाके कारण नाना रूपोंमें प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक ही जल वायुके कारण तरङ्गफेनबुद्बुदादि अनेको आकारोंमे भासने लगता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मलिन जलमे पडी हुई बहुत बडी शिला भी प्रतीत नहीं होती किन्तु वही जलके निर्मल होनेपर स्वय दीखने लग जाती है उसी प्रकार सबसे बडा और स्वय-प्रकाश ब्रह्म अन्त करणमें रहते हुए भी उसके मलिन होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। रागद्वेषादि मलोंकी निवृत्ति द्वारा चित्त निर्मल हो जाने पर उसकी प्रतीति स्वय होने लगेगी। यह मल माया कल्पित है इस लिये इसका उच्छेद होना सम्भव हैही उसमे सत्यत्वबुद्धि केवल अविवेकके कारण है, अत प्रत्येक साधकको पहले अन्त करणको शुद्ध करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ ६८ ॥

पूर्वोक्त आत्माकी असङ्गताका उपपादन करनेके लिये अग्रिम दो श्लोकोंसे प्रतीयमान जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन करते हैं—

गङ्गौघाधो निमग्ना दृढपृथुलशिला किन्नदृश्यते नो यथान्त-
र्नैर्मल्याप्युच्चलेत्मा सति वहति महास्रोतसि स्वोपरिष्टात्।
तद्वत्संसारपूरे सति महति सदास्यन्दमानेऽतिघोरे
निर्दुःखानिश्चलाङ्गा श्रुतिममधिगता पीवरी चिच्छिलाऽहम्

जिस प्रकार गङ्गाके प्रवाहमें डूबी हुई विशाल शिला अपने ऊपर सर्वदागगाका महाप्रवाह बहते रहने पर भी नहीं भीगती और न अपने स्थानसे विचलित ही होती है उसी प्रकार अत्यन्त घोर और महान् संसारनदका प्रवाह निरन्तर अपने ऊपर बहते रहनेपर भी यह श्रुति सिद्ध आत्मनामकी भारी शिला भी दुःखहीन और निश्चलरूपमें ही रहती है ॥ ६६ ॥

इसीबातको दूसरी तरह कहते हैं—

धूयन्तां रागवातैरनिशमिह मनश्चीन वासोध्वजान्ताः
शान्ताः सन्तोऽथवान्ते जहतु कथमपि स्वीयमालौल्यमेते ।
के ते गाढं निखातं सकलजडभुविप्रत्यगात्मान मुच्चैः
स्वस्थं कान्ताभमान्दोलयितुमपि मनाग् वाजमुद्दण्डदण्डम् ॥

रागरूप वायुके वेगसे मनरूप ध्वजाके अन्तिम भाग चाहे रातदिन हिलते रहें अथवा शान्त होकर अन्तमें अपनी चपलता को छोड़ दें, तथापि उनके कारण जडप्रपञ्चरूप भूमिमें दृढतासे गड़ा हुआ अत्यन्त ऊँचा और कूटस्थ आत्मारूप वज्रदण्ड तनिक भी इधर-उधर नहीं हो सकता ।

भाव यह है कि जिस प्रकार मरुमरीचिकाके कल्पित जलसे मरुस्थलमें कीचड़ नहीं हो सकता तथा भ्रमवश अग्नि मानी हुई गुञ्जाओंकी ढेरी दाह या प्रकाश नहीं कर सकती उसी प्रकार अनादि और अनिर्वचनीय मायाआरोपित कर्तृत्वभोक्तृत्वादि प्रपञ्च आत्मामें अणुमात्र भी दोष पैदा नहीं कर सकता ॥ ७० ॥

यदि कल्पित द्वैतसे आत्मामें कोई विकार नहीं हो सकता तो ज्ञानी होकर भी बहुतसे लोग दुःखी क्यों देखे जाते हैं, इसका उत्तर अग्रिम पद्यसे देते हैं—

> क्षणमहहमनो मे नन्दति स्वं समस्तं
> परिकलयदनन्तं ब्रह्मशान्तं नितान्तम् ।
> क्षणमथ तु दुराशावायुनोद्धूयमानं
> विशदहह विभेदं खेदमङ्गीकरोति ॥ ७१ ॥

कभी तो मेरा मन अपनेको अतिशान्त, और अनन्त ब्रह्म-स्वरूप अनुभव करता हुआ अत्यन्त आनन्दित होता है और कभी दुर्वासनारूप वायुसे विचलित होकर द्वैतोन्मुख प्रवृत्तिके कारण खिन्न होने लगता है।

सारांश यह है कि जिस प्रकार जपाकुसुमकी लालिमाका स्फटिकमें अध्यारोप होनेसे 'लोहितः स्फटिकः' ऐसा व्यवहार होता है फिरभी स्फटिक लौहित्यसे रहित ही है इसी प्रकार अन्तःकरणमें रहने वाले कर्तृत्वभोक्तृत्व एवं सुख-दुःखादि धर्मोंका आत्मामें अध्यारोप होनेके कारण मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, अथवा दुःखी हूँ ऐसे व्यवहार होते रहते हैं और आत्मा उस समय भी सब दोषोंसे रहित तथा एकमात्र सुख और ज्ञानस्वरूप ही है, इस लिये ज्ञानीको कभी भी आत्मामें सुखित्वादिका भ्रम नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

आत्मा को सदा ही सुख-दुःखादिसे रहित सुनकर शङ्का हो सकती है कि यदि वह सर्वदा मुक्त ही है तो ज्ञानी और अज्ञानीमें कोई भेद नहीं होना चाहिये। इसलिये ज्ञानके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ही है। इसका उत्तर आगेके दो पद्योंसे देते हैं—

मनः शान्तद्वैतं पिबतु परमानन्दममृतं
अमद्वाऽस्मिन्द्वैते दुरतिगमदुःखानि सहताम्।
अहं त्वस्यास्त्वस्यामविरतमवस्थामविकलो
विलोके निःशोके निजमहिमनि स्थास्नुरचलन् ॥७२

मन द्वैतसे उपरत होकर चाहे परमानन्दस्वरूप अमृतका पान करे अथवा द्वैतरूप गहन वनमें विचरता हुआ दुःसह दुःखों का अनुभव करे। दोनों ही अवस्थाओंमें मैं अपने सकलशोकरहित (स्वरूपमें) अविकृत और अचल रूपसे स्थित रहकर चित्तकी अवस्थाओंको देखता रहता हूँ॥ ७२॥

न मे प्रलोपः सविसर्वसंप्लवे
न चोद्भवोऽभूदितरस्य तूद्ये।
उभावपीमाववलोकयन्नहं
जगद्गतावस्मि सदैकमव्ययः ॥ ७३ ॥

सकल प्रपञ्चका नाश होनेपर भी मेरा नाश नहीं होता और

उदय होनेपर मेरा जन्म नहीं हो सकता मैं तो जगत्के उत्पत्ति और प्रलयका प्रकाश करता हुआ सदा एकरस ही रहता हूँ।

तात्पर्य यह है कि जैसे अपने घरमें अनन्त सुवर्णराशि गड़ी रहने पर भी अज्ञात रहनेके कारण दारिद्र्यका दुःख भोगना ही पड़ता है और जब दैवज्ञोके द्वारा उस निधिका ठीक ठीक पता लग जाता है तो सारे क्लेशोका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार परमानन्दस्वरूप आत्मा नित्य प्राप्त होनेपर भी अज्ञात रहनेके कारण अप्राप्त सा रहता है, और इसीसे अज्ञानी जीवको जन्म-जरादि अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है। परन्तु जब शास्त्र गुरु और परमेश्वरकी कृपासे जीवको अपने स्वरूपका यथावत् बोध हो जाता है तो इसके सारे दुःख समूल नष्ट हो जाते हैं और परमानन्दकी उपलब्धि होने लगती है। अतः ज्ञानके लिये उद्यम करना निष्फल नहीं है ज्ञानी और अज्ञानीका इसके सिवा ज्ञान और अज्ञानके कारण भेद तो अत्यन्त स्पष्ट ही है, इसलिये उसके लिये कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७३ ॥

अब शङ्का होती है कि जिस प्रकार तार्किकादि सुखदुःखादिको आत्माका धर्म मानते है उसी प्रकार यदि मान लें तो क्या आपत्ति है। इसमे तो 'मैं सुखी हूं' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार आत्माके धर्मरूपसे सुख दुःखका ग्रहण करने वाला प्रत्यक्षप्रमाण भी है। इसका समाधान अग्रिम दो पद्योसे करते हैं—

जगत्कथं मय्यथ सच्चिदात्मनि
स्थितिं लभेतेदमसज्जडात्मकम् ।
तथापि मात्येव विभातु किं भवे-
न्नभस्तले चेन्नगरीव विभ्रमात् ॥ ७४ ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप मुझमें यह असत् और जड़रूप जगत् कैसे स्थित रह सकता है ? तथापि आकाशमें नगरके समान यदि इसका भ्रमसे मेरेमें भान होता है तो हो । इसमें मेरी कोई हानि नहीं है ॥ ७८ ॥

अहं जगत्यत्र न मय्यदस्तथा
वृथा विकल्पस्तु विजृम्भते यथा ।
न दाममोगिन्यथ न स्रजि त्वसा-
वथापि सत्यानृतमेलनं मुधा ॥ ७५ ॥

यद्यपि न तो मैं इस जगत्में हूँ और न यह जगत् ही मेरेमें है, तथापि अविवेकके कारण दोनोंमें आधाराधेयभाव प्रतीत होता है । जिस प्रकार न तो सर्पमें रज्जु है और न रज्जुमें सर्प ही है फिर भी रज्जुतत्त्वके अज्ञानके कारण सत्य और मिथ्याका परस्पर तादात्म्य प्रतीत हो ही जाता है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार नेत्रोंसे एक बिलस्त प्रतीत होने पर भी ज्योतिषशास्त्रके आधारसे चन्द्रमण्डलका परिमाण अनेकों

योजन मानना पड़ता है, उसी प्रकार प्रत्यक्षसे सुख, दुःख एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादि धर्मोंसे युक्त प्रतीत होनेपर भी आत्माको 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्', 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि शास्त्रके कारण सकल धर्मोंसे रहित मानना भी उचित है। तार्किकोंकी स्वतन्त्र कल्पना अपौरुषेय श्रुतिसे विरुद्ध होने के कारण मानने योग्य नहीं है। यदि प्रत्यक्षको ही प्रबलतम प्रमाण मान लिया जाय तो 'मैं चलता हूं, बूढ़ा हूं, मोटा हूँ, ब्राह्मण हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभवके कारण आत्मामें क्रिया, वृद्धता, स्थूलता, ब्राह्मणत्व आदि धर्मोंको भी मानना चाहिये। इस प्रत्यक्ष अनुभवको भ्रम मानना और ऐसे ही 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूं' इत्यादिको प्रमाण मानना कहांतक संगत हो सकता है—इसका विवेचनकुशल और विद्वज्जन स्वयं विचार द्वारा निर्णय कर सकते हैं, हम इस विषयमें अधिक कहना आवश्यक नहीं समझते। अतः श्रौत सिद्धान्तके अनुसार आत्माको सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित, कूटस्थ और असङ्ग मानना ही जिज्ञासुओंके लिये हितकर है ॥ ७५ ॥

आत्मसाक्षात्कार होनेपर भी मनोनाशके बिना पूर्णतया जीवन्मुक्तिका आनन्द अनुभव नहीं हो सकता, इसलिये योगारूढ़ होनेके लिये प्रत्येक साधकको मनोनाश करना आवश्यक है। यह कहनेके लिये अगले श्लोकसे प्रपञ्चको मनोमूलक बताया जाता है :—

मनः स्फुरद् भाति जगत्तयाऽन्यथा
स्वतत्त्वबोधादत एव केवलम्।

अवाप्य बोधं प्रचकास्ति भासुरं
मनो भवद् ब्रह्म निरामयाभयम् ।७६॥

आत्मतत्त्वके बोधसे पूर्व केवल चित्त ही जगद्रूपसे स्फुरित होकर अन्यथा प्रतीत हुआ करता है तथा ब्रह्म और आत्माके एकत्वका साक्षात्कार हो जानेपर वही मन शुद्धसच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मसे अभेदरूपसे प्रकाशित होने लगता है।

भाव यह है कि जिस प्रकार 'अग्नि रहनेपर धूआं भी रहता है और अग्नि न रहनेपर धूआं नहीं रहता' इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा धूएँकी स्थिति अग्निके कारण निश्चित होती है, उसी प्रकार 'मनके रहनेपर ही जगत्की प्रतीति होती है मन न रहनेपर जगत्की प्रतीति भी नहीं रहती' इस अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा जगत्प्रतीतिमें भी मनकी कारणता निश्चित होती है। भ्रम और प्रमा दोनों अन्तःकरणमें ही रहनेवाली होनेसे उनका बाध्य-बाधक भाव उचित ही है—यह भी इस श्लोकका तात्पर्य हो सकता है ॥ ७६ ॥

जब मन ही जगत्का कारण है तो मुमुक्षुको सबसे पहले मनोनाशके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये, यह बात उपर्युक्त कथनका अनुवाद करते हुए आगामी पद्यसे कहते हैं:—

जगत्प्रलोपं जगुरुन्मनस्कतां
मनोऽनशेषं दृढमस्य मूलकम्

ततो मुमुक्षुः प्रयतेत सागमं

मनः प्रलोपेऽन्यदुपेक्ष्य साधनम् ॥७७॥

क्योंकि चित्तका अभाव ही जगत्का अभाव करनेवाला है और चित्तका अस्तित्व ही उसका मूल है इसलिये मुमुक्षुको अन्य साधनोंकी उपेक्षा करके सबसे पहले शास्त्रोक्त उपायोंसे मनका नाश करनेके लिये उद्यत होना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जिस वृक्षका मूल पृथिवीमें है वह कालान्तर में पुनः अंकुरित हो जाता है और जिसका मूल नष्ट हो चुका हो उसके पुनः अंकुरित होनेका भय नहीं रहता। इसी प्रकार इस जगत्का भी आत्यन्तिक अभाव करनेके लिये इसके मूलभूत चित्त को नष्ट कर देना चाहिये। चित्तके रहते हुए जगत्की पुनरुत्पत्ति का भय बना ही रहता है॥ ७७॥

इसी बातको प्रामाणिक मानते हुए चित्तशोधनका उपाय बतानेके लिये आगामी श्लोक कहा जाता है :—

ततः प्रयत्नैः परिशोधनीयता-

मुष्य पूर्वे बभणुर्महाधियः।

न जातु जातं जगदस्ति सच्चिती-

त्यसंशयं भावनमाहुरामृजाम् ॥७८॥

क्योंकि संसारका कारण चित्त ही है इसीलिये पूर्वाचार्योंने 'चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नाधिकित्स्यताम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा

प्रयत्नपूर्वक चित्तशोधनका ही उपदेश किया है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मामें असत् जड़ और दुःखरूप जगत् तीनों कालमें नहीं हो सकता. ऐसा संशय और विपर्ययशून्य चिन्तन ही चित्तका शोधन करनेवाला है।

भाव यह है कि रागद्वेष ही चित्तके मल हैं और वे कभी निर्विषय नहीं हो सकते। अतः उक्त चिन्तनद्वारा जब जगत्में असत्यबुद्धि स्थिर हो जायगी तो रागद्वेषका कोई विषय न रहने के कारण वे प्रबल पवनद्वारा छिन्न भिन्न किये बादलोंके समान स्वयं ही नष्ट हो जायँगे और चित्त निर्मल होकर परमात्मसाक्षात्कार के योग्य हो जायगा ॥ ७८ ॥

अशुद्ध मन जगत्का कारण है और वही शुद्ध होनेपर मुक्ति का निमित्त बनता है, यह बात केवल शास्त्रगम्य ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव से भी सिद्ध है-यह अग्रिम पद्यमें कहते हैं:-

मनः सरागं मलमूत्रभाजनं
वपुः पवित्रं मनुतेऽमृतादपि ।
तदेव वैराग्यविशारदं मनो
हिरण्यगर्भं न तृणायमन्यते ॥७९॥

काम एवं रागादिसे आक्रान्त चित्त मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थों से परिपूर्ण शरीरको अमृतसे भी अधिक पवित्र समझता है और वही वैराग्यरूप शुद्धिसे युक्त होनेपर हिरण्यगर्भ तकको तिनके के

समान भी नहीं समझता। अतः पहले जो जगत्‌की सत्तामें मनकी कारणता बतायी है वह अनुपपन्न नहीं है, किन्तु अपने अनुभवसे सिद्ध होनेके कारण प्रामाणिक ही है ॥ ७९ ॥

यदि अनुभव और शास्त्रके द्वारा जगत् मनोमूलक ही सिद्ध होता है तो फिर मुमुक्षुको मनोनिरोधके लिये योगाभ्यास ही करना चाहिये, ज्ञानके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासनका अनुष्ठान तो क्षुधानिवृत्तिके लिये स्नान करनेके समान है—इस शंकाका उत्तर आगामी दो श्लोकोंसे देते हैं :—

अहो सदानन्दमयः सदोदितो
विभुश्चिदात्माऽप्यज एकलो ध्रुवः ।
अनाथि सर्वेश्वर एवसन्नसन्-
मनःपिशाचैर्ननु दीनतामिव ॥ ८० ॥

यह आत्मा सर्वदा आनन्दमय, नित्य, विभु, स्वयंप्रकाश, अविक्रिय, अद्वितीय, कूटस्थ और सर्वेश्वर होकर भी मन आदि पिशाचोंके सम्पर्कसे दीन-जैसा बना हुआ है ॥ ८० ॥

अहो अहो अद्भुतमेकमीक्षितं
गजोऽपि वन्यः खलु तन्तुना सितः ।
इदं तथा चापरमद्भुतं महद्
घटे भृतः सागर एव केनचित् ॥ ८१ ॥

वडे आश्चर्यकी वात है कि जंगली हाथीको एक तन्तुसे बांध लिया और इससे भी वढ़कर आश्चर्य यह है कि किसीने महासागर को घड़ेमें भर दिया।

भाव यह है कि जिस प्रकार गजको तन्तुसे बांधना और समुद्रको घड़ेमें भर देना ये दोनो बातें असम्भव हैं वैसे ही नित्य विभु स्वयंप्रकाश आत्माका अन्तःकरणमें प्रतिविम्बित होना अथवा उससे अवच्छिन्न होकर जन्म-मरणादि सांसारिक धर्मोंका आश्रय वनना भी सर्वथा असम्भव है; परन्तु 'मैं दुःखी हूं, वृद्ध हूँ, रोगी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवसे ऐसा भान अवश्य होता है। अतः असम्भव होनेपर भी प्रतीत होनेके कारण रज्जु-सर्पके समान आत्मामें आश्रित जगत् मिथ्या है और मिथ्याकी निवृत्ति विना अधिष्ठानके ज्ञान हुए नहीं हो सकती, क्योंकि रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुज्ञानके विना मनोनिरोध आदि सहस्रों उपायोंसे भी कभी निवृत्त नहीं हो सकता। अतः अनर्थकी निवृत्तिके लिये आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान ही आवश्यक है॥ ८१॥

यदि वन्धनकी निवृत्तिके लिये आत्मज्ञान ही पर्य्याप्त है तो फिर 'ततो मुमुक्षुः प्रयतेत सागमं मनः प्रलोपेऽन्यदुपेक्ष्य साधनम्' इत्यादि ग्रन्थसे मनोनिरोधका उपदेश करना व्यर्थ ही है। इसका उत्तर आगामी तीन पद्योंसे देते हैं—

मनः प्रचारो विषयेषु मास्म भू-
द्दितिस्वरूपे मुहुरर्प्यतामिदम्।

विना तथा ध्यानसमाधिसन्तति

मनोजयो नेत्यगदन्महर्षयः ॥ ८२ ॥

मनकी प्रवृत्ति विषयोंमें न हो, इसलिये उसे बार बार अपने स्वरूपमें स्थित करना चाहिये। परन्तु दीर्घकाल तक ध्यान और समाधिके अभ्यासके बिना स्वरूपमें चित्तकी स्थिति हो नहीं सकती–यह प्राचीन महर्षिगण सिद्ध कर चुके हैं। अतः इसके लिये ध्यान और समाधिकी भी आवश्यकता है ॥ ८२ ॥

मनोजयश्चेन्न कृतो न वासनाः

क्षयं च नीता यदि मूलतोऽखिलाः।

स्थितिस्तया तत्त्वपदं न लम्भिता

वृथा प्रलापाय तदाऽऽगमा अमी ॥ ८३ ॥

यदि मनका जय नहीं किया, सम्पूर्ण वासनाओंका समूल नाश नहीं किया और आत्मतत्त्वमें चित्तकी पूर्ण स्थिति नहीं की, तो श्रवण-मननादिका अनुष्ठान सब व्यर्थ प्रलापमात्र ही है ॥ ८३ ॥

मनः सदा खेलति वासनाऽऽनिलं

पराचि नित्यं प्रवणं तथेन्द्रियम्।

अथापि चेद्ब्रह्म वदन्ति निर्भया

अहोजनानां परिशोचनीयता ॥ ८४ ॥

वासनाओंसे वसा हुआ चित्त सदा विषयोंहीमे खेल रहा है और इन्द्रियगण सर्वदा अनात्मवस्तुमे ही तत्पर रहता है फिरभी निर्भय होकर ब्रह्मोपदेश कर रहे हैं—हाय! जीवोंकी कैसी शोचनीय दशा है?

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भोजन करनेपर भी यदि शरीरमे शक्तिका अनुभव न हो तो भोजन करना व्यर्थ ही है, क्योंकि केवल तृप्तिके लिये ही भोजन नहीं होता अपितु शरीरकी पुष्टि भी उसका प्रयोजन होती है। इसी प्रकार केवल दु खकी निवृत्तिही अभीष्ट नहीं है, परमानन्दका भी अनुभव होना चाहिये। और वह चित्तनिरोधके बिना हो नहीं सकता, इसलिये चित्तनिरोध भी आवश्यक है॥ ८४॥

यदि चित्तनिरोधकी अपेक्षा करनी भी उचित नहीं है, और आत्मज्ञान भी आवश्यक है तो क्या दोनोको ही स्वीकार करना चाहिये? इस आशकाको इष्ट मानकर शान्त करनेके लिये आगामी श्लोक कहा जाता है—

ततः परागर्थपराक्षवर्गकं
निरुद्ध्य यत्नेन मुमुक्षुरादितः।
मनः समाधाय च मानतो मिते
विलोकयेत्स्वं गुरु दिष्टया दिशा॥ ८५॥

आत्मबोध और मनोनिरोध दोनो ही आवश्यक होनेके

कारण पहले मुमुक्षु अनात्मकी ओर जाने वाली इन्द्रियोंको यत्नपूर्वक रोककर शास्त्रप्रमाणसे निश्चित वस्तुमें चित्तको निरुद्ध करे और गुरूपदिष्ट मार्गसे आत्माका साक्षात्कार करे।

भाव यह है कि जिस प्रकार केवल जलसे कोई यन्त्र नहीं चलता और न केवल अग्निसे ही चलता है किन्तु जल और अग्नि दोनों मिलकर ही यन्त्रक्रियाके कारण बनते हैं; उसी प्रकार पूर्णकृतकृत्यताका निमित्त न केवल ज्ञान है और न केवल चित्तनिरोध, किन्तु दोनों मिलकर ही उसके प्रयोजक हैं। अतः प्रत्येक साधकको दोनों ही के अनुष्ठानमें तत्पर रहना चाहिये ॥ ८५॥

अब शङ्का होती है कि पहले आत्मज्ञानसे जो अनर्थकी निवृत्ति कही गयी है वह कैसे हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने आपको जानता हुआ भी अनेकों अनर्थोंसे व्याप्तही दिखायी देता है। यदि आत्मज्ञानसे अनर्थकी निवृत्ति हो सकती तो सभी प्राणी सुखी होजाते। यह भी कहा नहीं जा सकता कि उन्हें आत्मज्ञान नहीं है, क्योंकि सब जीव अपने आपको जानते ही हैं, और अपना-आप ही आत्मा है; अतः वे सभी आत्मज्ञानी हैं और दुःखी भी हैं। इसलिये आत्मज्ञान अनर्थका निवर्तक नहीं हो सकता। इसका समाधान आगेके दो श्लोकों द्वारा करते हैं—

मनो विलासानवलोकयन्विभु-
विराजतेऽयं हृदि सङ्गवर्जितः।

न दुःखदीनो न च सौख्यवर्धितो,
मनस्ययं चित्तदशाः प्रकाशयन् ॥ ८६ ॥

सर्वव्यापी परमात्मा मनोवृत्तियोंका साक्षी बनकर हृदयमें विराजमान है और चित्तके सुख-दुःखोंको प्रकाशित करते हुए भी असङ्ग होनेके कारण उसके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी नहीं होता। किन्तु सदा एक रस ही रहता है ॥ ८६ ॥

स्वान्ते विभान्तं प्रतिबोधमन्त-
र्ध्वान्तं नितान्तं प्रविदारयन्तम्।
शान्तं न विन्देत जनो यदीमं
नान्तं व्रजेज्जन्मजरामृतीनाम् ॥ ८७ ॥

अपने अन्तःकरणमें उसकी वृत्तियोंको साक्षीरूपसे प्रकाशमान और हृदयके अन्धकारको समूल नष्ट करनेमें समर्थ शान्तस्वरूप परमात्माको जबतक पुरुष प्राप्त नहीं करेगा तबतक वह जन्म जरा मृत्युस्वरूप अनर्थमय संसारसे मुक्त नहीं हो सकेगा।

अभिप्राय यह है कि 'तरति शोकमात्मवित्' 'विद्वान्नाम रूपाद्विमुक्त,' 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः,' 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' 'निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि आत्मज्ञानसे अनर्थकी निवृत्ति होती है और प्रत्येक प्राणी अपनेआपको

जानता है यह भी निर्विवाद है। इसलिये दोनो बातोके प्रामाण्यकी रक्षाके लिये कुछ व्यवस्था करना आवश्यक है, जिससे कि दोनो प्रमाणोमें विरोध न रहे अत. यो मानना चाहिये कि आत्माका सामान्याशरूप चैतन्य प्रत्येक प्राणीको ज्ञात है। और शास्त्र जिस आत्माके ज्ञानसे सकलअनर्थोंकी निवृत्ति कहता है वह अपरिच्छिन्नत्वआनन्दरूपत्वआदि विशेषणोंवाला आत्माका विशेष स्वरूप है, जिसका उल्लेख साक्षी, ब्रह्म, परमात्मा, आदि अनेको शब्दोंसे भी किया जाता है। ऐसा मानना ही न्याय्य है, क्योकि यह देखा ही जाता है कि सामान्यरूपसे अग्नि सर्वत्र वर्तमान रहते हुए भी वह दाहप्रकाशरूप प्रयोजनकी पूर्त्ति नहीं कर सकता वही अग्नि जब विशेषरूपमे आविर्भूत होता है तो दाह भी करता है और प्रकाश भी। इसी प्रकार आत्मा सामान्यरूपसे ज्ञात हुआ भी अनर्थनिवृत्यादि प्रयोजनका साधक नहीं है। वही जब आनन्दरूप और अपरिच्छिन्नत्वादि विशेपरूपसे ज्ञात होगा तब अवश्य शास्त्रोक्त फलकी प्राप्ति करानेवाला होगा। इसीको शास्त्र ब्रह्मज्ञान आत्मसाक्षात्कार आदि अनेकोनामोंसे कथन करता है। अत आत्मज्ञानके लिये प्रयत्नशील रहना प्रत्येक मुमुक्षुका कर्तव्य है ॥ ८७ ॥

अस्तु, यदि परमात्माकी प्राप्ति और आत्मप्राप्ति एक ही चीज है तो आत्मा सदा प्राप्त होनेके कारण ईश्वर भी नित्य प्राप्त ही है। तो भी उसके लिये चेष्टा करना व्यर्थ है। इसका उत्तर आगे के दो पद्योंसे देते हैं—

आत्मा च नामाय च लम्मनीयो
जल्पन्त्युधा विप्रतिपिद्धमेतत् ।
तस्मादसौ लब्धतदैवलभ्यः
कण्ठस्थचामीकरसंनिकाशः ॥ ८८ ॥

यद्यपि नित्यप्राप्त होने के कारण आत्मा को प्राप्तव्य कहना सर्वथा विरुद्ध है तथापि 'आत्मा प्राप्तव्यः' इसका अर्थ है कि 'प्राप्तत्वेन रूपेणैवात्मानिरचेतव्यः' अर्थात् आत्मा नित्यप्राप्त है— इस प्रकार ही निश्चय करना, जिस प्रकार कि गले में पड़े हुए हार की विस्मृति होने पर 'हार मेरे कण्ठ में है' इस प्रकार का निश्चय होना ही उसकी प्राप्ति है ॥ ८८ ॥

प्राप्त वस्तु में भी औपचारिक अप्राप्तत्व हो सकता है, यह कहनेके लिये आगे का श्लोक है—

अमुं निधिं गाढमहो जनानां
निगूढमन्तर्हृदि दीप्यमानम् ।
न जानते मोहशिलाऽऽवृतत्वा-
दमी ततो दीनदशामवापुः ॥ ८९ ॥

मनुष्योंके हृदयके गम्भीर स्थलमें छिपे हुए उस देदीप्यमान आत्मनिधिको, अज्ञान-शिलासे आवृत होनेके कारण, न जानकर ही सब लोग दुःखका अनुभव कर रहे हैं ।

भाव यह है कि यदि सचमुच ही गलेका हार किसी कारणसे गलेसे निकलकर अज्ञात रूपसे गिर जाय तो उस आभूषणवाले पुरुषको बड़ा ही दुःख होता है और फिर खोज करनेपर ईश्वरके अनुग्रहसे यदि वह खोया हुआ सोनेका आभूषण मिल जाय तो उस व्यक्तिके शोक-दुःखादि सब दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार हारके गलेमें रहते हुए ही यदि 'हार कहीं गिर गया' ऐसा विपरीत निश्चय होजाय तो भी पहले जैसा दुःख ही होता देखा जाता है और जब किसीके कहने से अथवा स्वयं ही उसके गलेमें होनेका निश्चय हो जाता है तो वे शोक दुःखादि सब दूर हो जाते हैं। इसलिये औपचारिक रूपसे दुःखजनकत्व रूप धर्म को लेकर विपरीत निश्चय को अप्राप्ति तथा दुःखनिवर्तकत्वरूप धर्म की दृष्टि से यथार्थ निश्चय को प्राप्ति कहा जा सकता है। अतः आत्माका अज्ञान ही सारे दुःखों का कारण होने से आत्मा की अप्राप्ति है और सम्पूर्ण अनर्थों का निवर्तक होने से उसका यथार्थ ज्ञान ही उसकी प्राप्ति है। इसलिये जहाँ आत्माकी प्राप्ति कही जाय वहाँ उसका अर्थ आत्म ज्ञान ही समझना चाहिये। इसलिये 'लब्धतयैव लभ्यः' यह उक्ति बहुत ठीक है॥ ८६॥

क्योंकि परमानन्दरूप आत्मा की उपलब्धि उसके ज्ञान में ही मानी जाती है इसलिये—

विद्यादतस्तूर्णमिमं विवित्सु-
र्व्यपावधिं मोदमनन्त लोके।

त्यक्त्वेतरत्कर्म वृथा वितानं
निधूय कामान्मृगतृष्णिकाभान् ॥ ९० ॥

निरवधि सुखको प्राप्त करनेकी इच्छावाला पुरुष व्यर्थ आडम्बरवाले कर्मोंको और उनसे प्राप्त होनेवाले मरुमरीचिका के जल सदृश स्वर्गादि विषयोंको छोड़कर अपनी हृदयकन्दरामें सर्वदा भासमान परमात्माका साक्षात्कार करे। तभी संसारका बीजभूत अज्ञान नष्ट होगा और तभी इसको अचल पदकी प्राप्ति होगी ॥९०॥

बहुतसे पुरुषोंका आक्षेप है कि जिसप्रकार कर्म अथवा उपासनारूप वैदिक साधनोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग सुखादि फल लोकान्तरोंमें ही जाकर भोगा जाता है उसीप्रकार ज्ञानरूप वैदिक साधनसे मिलनेवाला मोक्षरूप फल भी लोकान्तरमें ही भोगा जाना चाहिये। ऐसी स्थितिमें कर्मफल के समान मुक्ति भी अनित्य होनेके कारण प्राप्त नहीं हो सकती। इस आक्षेपका उत्तर देने के लिये आगामी श्लोक है—

अयमहमखिलेश्वररचिदात्मा
किमिह मयाऽनुपलब्धमस्ति लोके।
सति जडजगतां मयि प्रचेष्टा
तदहमहो जगदन्तरात्मभूतः ॥ ९१ ॥

मैं सारे जगत्‌के स्वामी चिदात्मासे अभिन्न हूं; अतः संसारमें मुझे कौन वस्तु अप्राप्त हो सकती है? सम्पूर्ण जड़ जगतकी चेष्टा मेरी ही सत्तासे होती है, इस लिये जगत्‌का अन्तर्यामी और प्रेरक मैं ही हूं। भाव यह है कि 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इस श्रुतिके अनुसार सर्वात्मभाव ही मोक्ष है और विद्वान्‌को इसका अपने जीवनकालमें ही अनुभव हो जाता है; इसलिये यह लोकान्तरमें भोगनेयोग्य नहीं हो सकता। वैदिक साधनजन्य स्वर्गादि यद्यपि लोकान्तरमें भोगनेयोग्य होते हैं तथापि कारीरीयागादि साधनोंसे होनेवाले वृष्टि आदि फल इसी लोकमें उपभोग्य देखे गये हैं। इसलिये ऊपर जो हेतु दिया गया है वह व्यभिचारी है और इस लोकमें भोगकी अयोग्यतारूप उपाधि के कारण सोपाधिक भी है; अतः इस हेतुसे मुक्तिमें परलोकभोग्यत्व और अनित्यत्वादि सिद्ध नहीं किये जा सकते तथा 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिके अनुसार जिसे नित्यरूपसे निश्चय किया है वह मोक्ष अनुपादेय नहीं हो सकता ॥६१॥

जिस प्रकार विद्वानको यहीं पर सर्वात्मताका अनुभव होता है वैसे ही भयदुःखादिकी निवृत्ति भी उसे यहीं अनुभूत होती है यह बात आगेके दो पद्योंसे कहते हैं—

जगदिदमखिलं मयि प्रमातं
न मदतिरिक्तमतोऽणवपि प्रलोके।
व्यपगतमभवद् भयं समस्तं
मयमितरभ्रमभामितं यदूचुः ॥ ६२ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानभूत मेरेमें ही प्रतीत होता है। इस लिये मुझसे भिन्न संसारमें अणुमात्र भी नहीं है। अत द्वैतभ्रमसे प्राप्त हुआ सारा भय आज नष्ट हो गया।

भाव यह है कि 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि श्रुतियोंसे तथा प्रत्यक्षसे भयका हेतु द्वैत दर्शन ही है क्योंकि जागरित कालमें द्वैतदर्शनसे भय और सुषुप्तिके समय द्वैतदर्शनाभावसे भयका अभाव सभीको अनुभवसिद्ध है। अत अद्वितीयआत्मतत्त्वके ज्ञानसे मिथ्या द्वैतदर्शनका अभाव होनेपर उससे होनेवाले भयका अभाव होना सर्वथा उपपन्न ही है ॥ ६२ ॥

भयाभावका प्रतिपादन करके दु खाभावका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका श्लोक कहा जाता है—

सुखमनन्तमिदं जगतामहं
मयि तु दुःखलवोऽपि कथं भवेत्।
न खलु लोक विलोकनके रवा-
वनुपधानतमः समदर्शकि ॥ ६३ ॥

जब मैं समस्त जगत्को आनन्दित करनेवाला और अनन्त सुखस्वरूप हूँ तब मेरेमें दु खका बिन्दुभी कैसे सम्भव हो सकता है। अपने प्रकाशसे सारे संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्यमें क्या कभी किसीने वास्तविक अन्धकार देखा है?

भाव यह है कि जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप सूर्यमें उसके विरुद्ध अन्धकार सत्य नहीं हो सकता हाँ अज्ञान दशामे अन्तःकरणमें रहनेवाले दुःखका आत्मामें आरोप हो सकता है। परन्तु ज्ञानकालमें यह भी सम्भव नहीं है इसलिये ज्ञानी सर्वदा सुख का ही अनुभव करता है ॥ ६३ ॥

अस्तु, इस जन्ममें भले ही भय और दुःख न हो तथापि जन्मान्तरमें तो हो ही सकते हैं, इसलिये ज्ञान परम पुरुषार्थका हेतु नहीं हो सकता इस शंकाका समाधान आगामि श्लोकमें कहते हैं—

कामपाशपरिणद्धमानसो
जन्तुरेव जगतीह जायते ।
शारदाभ्रपरिशुद्धचेतसो
ब्रह्मणश्च मम जन्म कीदृशम् ॥ ६४ ॥

कामरूपी पाशमें चित्तके बँधनेपर ही जीवको संसारमें जन्म लेना पड़ता है। शरत्कालीन मेघोंके समान निर्मलचित्त होनेके कारण ब्रह्मस्वरूप मेरा जन्म नहीं हो सकता।

भाव यह है कि जन्मका कारण काम है 'स कामभिर्जायते तत्रतत्र' इति श्रुतेः और कामका कारण विषयोंमें सत्यत्वभ्रम है। आत्मबोध होनेपर विषयोंमें मिथ्यात्वनिश्चय हो जानेसे काम न होनेके कारण विद्वान्का जन्म होना सम्भव नहीं है।

अतः दुःखका समूल ध्वंस करनेके कारण आत्मज्ञान परमपुरुषार्थका निर्बाध साधन है ॥ ६४ ॥

अब शङ्का होती है कि यदि जन्मका कारण काम हो तभी तो उसकी निवृत्तिसे जन्मकी निवृत्ति हो सक्ती है, परन्तु जन्मका कारण तो वासनाएँ हैं। अतः कामनिवृत्ति मात्रसे जन्मका अभाव नहीं हो सकता। इसका उत्तर अगले श्लोकसे दिया जाता है—

या बिभर्ति जगदेतदद्‌भुतं
वासना वितथभोगभासुरा।
जीवलोकमृगवागुराधुना
सावबोधबलतो व्यशीर्यत ॥ ६५ ॥

जो मिथ्या विषयोंके द्वारा पुष्ट होनेवाली और जीवगणरूप मृगोंको बाँधनेके लिये जालके समान तथा इस जगत्की स्थितिमें प्रधान कारण है वे वासनाएँ भी आत्मज्ञानका उदय होनेसे नष्ट हो गयीं।

भाव यह है कि वासनाका मूल विषयोंमें रम्यत्वबुद्धि है, आत्मज्ञानसे विषयोंमें तुच्छत्वबुद्धि हो जानेपर उनमे रमणीयता का निश्चय नष्ट हो जानेसे उससे होनेवाली वासनाएँ भी स्वयं नष्ट हो जाती हैं। इसलिये यदि जन्मको वासनामूलक भी माना जाय तब भी ज्ञानीका जन्म होना असम्भव है, क्योंकि उसके

जन्मकी हेतुभूत वासनाएँ ज्ञानाग्निसे भस्म हो जाती हैं। इसलिये ज्ञानकी परमपुरुषार्थ साधनता पूर्ववत् बनी ही रहती है ॥ ६५ ॥

मुमुक्षु अवस्थामें साधनोके अनुष्ठानसे अनेकों क्लेश भी उठाने पड़ते हैं; परन्तु ज्ञान होनेपर विद्वान् को उन सबका अभाव अनुभव होता है—यह बात अग्रिम दो पद्योंसे कही जाती है—

वीतशोकमतिलोकमेककं
ज्योतिरेव जगदन्तरीक्ष्यते ।
न स्म भाति न च भाति वस्तुतो
भास्यतीदमिह विश्वडम्बरम् ॥ ६६ ॥

शोक-मोहादि समस्त संसार धर्मोंसे रहित एक अलौकिक चैतन्यज्योति ही जगत्के अन्दर अनुस्यूत दिखायी देती है और इसीसे इस जगदाडम्बरका त्रैकालिक अत्यन्ताभाव हो गया है ॥ ६६ ॥

उदगादयं प्रचुरबोधमयो
रविरस्तमायदखिलं च तमः ।
मिहिका व्यलास्तवितथप्रतिभा
व्यशदायताथ चिदनन्तनमः ॥ ६७ ॥

संशय-विपर्ययशून्य सुदृढ़ बोधरूप सूर्यका उदय होनेसे अज्ञान

रूप अन्धकार नष्ट होगया, और मिथ्या-प्रतीतिरूप कुहिरा दूर होकर चैतन्यरूप आकाश अत्यन्त निर्मल होगया।

भाव यह है कि पाकक्रिया होजानेपर जैसे उसके साधन अग्नि और ईंधन आदिका त्याग हो जाता है वैसे ही अन्तःकरण स्वच्छ होकर ज्ञान हो जानेपर फिर उसके लिये साधनोंके अनुष्ठानकी भी अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये विद्वान्में साधनजनित क्लेश भी नहीं रहते ॥ ६७ ॥

शोक मोहादिके अभावके समान विद्वान्को ब्रह्मानन्द भी अपरोक्ष रहता है। यह बात अग्रिम तीन पद्योंसे कहते हैं:—

न जुगुप्सतेऽथ हृदयं तु मना-

गभिनन्दतीह न च किञ्चिदपि।

प्रतिपित्सते न किमपि स्वपरं

रमतेऽनपेक्षमपसीमसुखे ॥ ६८ ॥

मेरा हृदय न तो किसी पदार्थसे घृणा करता है और न किसी में प्रेम ही रखता है तथा आत्मा वा अनात्मा किसी भी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रखता, किन्तु सर्वदा निरवधिक आनन्द ही में मग्न रहता है ॥ ६८ ॥

प्रकटत्वमापदियमन्तरहो

परितृप्तिरन्तविधुराऽविषया।

अनिलोलमेतदिह हन्त मनो
लवणस्य भित्तमिव लीनमभूत् ॥ ६६ ॥

अनन्त तथा निर्विषय आन्तर शान्तिका आविर्भाव हुआ और यह मन निश्चल होकर जलमें लवणपिण्डके समान उसीमें लीन होगया ॥ ६६ ॥

प्रपञ्चपरिचर्चया विगतमेव दुर्धर्षया
न्यभासि परहर्षयाऽमितसुधाऽभिसंवर्षया
गभीरमवगाढया किमपि तत्त्वमागाढया
विलीयमिलितं धिया सपदि तत्र संवित्सया ॥ १००

प्रपञ्चके विषयमें जो अत्यन्त दुर्दम्य सङ्कल्प थे वे शान्त हो गये, अनन्त हर्ष प्रदान करनेवाली परमामृतकी वृष्टिका आरम्भ हो गया। और वह किसी अकथनीय तत्त्वमें दृढताके साथ जटित होकर उसीमें मिलनेकी इच्छासे बुद्धिभी विलीन होकर उसीके साथ एकरस होगयी।

तात्पर्य यह है कि जिस सुखको पुरुष सदैव चाहता है वह इसका स्वरूप ही है, क्योंकि सब महान् पुरुषोंका यही अनुभव है। उसकी अप्रतीतिमें केवल चित्तकी बहिर्मुखता ही कारण है। यदि अधिकारी शास्त्रोक्त साधनोंके अनुष्ठानसे अपने चित्तको अन्तर्मुख करले तो वह शीघ्र ही आत्मसुखका अनुभव

कर सकता है । अन्धकारसे भरे हुए घरमें रखी हुई वस्तुओंकी प्रतीति केवल अन्धकारको हटानेसे ही हो जाती है । इसी प्रकार अन्तर्मुख चित्त इसी शरीरमें परमानन्दका अनुभव कर लेता है, कहीं लोकान्तर या देहान्तरमें जानेकी आवश्यकता नहीं होती । अत मुमुक्षुवर्गको शास्त्रीय साधनोंके अनुष्ठानमें ही दत्तचित्त रहना चाहिये ॥ १०० ॥

यद्यपि शास्त्रमें अनेकों साधनोंका उपदेश किया गया है, तथापि अभ्यास और वैराग्यमें सबका अन्तर्भाव हो जाता है । अत साधकोंको सुगमतासे समझानेके लिये उक्त साधनोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता आगेके छ पद्योंसे कही जाती है । उसमें पहले आगामि पद्यसे वैराग्यकी उपयोगिता कहते हैं—

परिहरन्नखिल लभते पुमा
नभिलपन्न च विन्दति किञ्चन ।
यदमृतत्वमवादिपुरागमा-
स्त्यजनतः सकलस्य समस्तताम् ॥ १०१ ॥

इच्छा करनेसे पुरुषको कुछ भी नहीं मिलता और त्याग करनेसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है, क्योंकि परम दुर्लभ सर्वात्मभावरूप मोक्षनामक अमृतत्व भी सबके त्यागसे ही प्राप्त होता है । इसमें 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशु' यह शास्त्र प्रमाण है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार वैराग्यकी आवश्यकता बताकर चित्तनिरोधके लिये अभ्यासका प्रतिपादन करनेके विचारसे पहले तीन श्लोकों द्वारा पूर्वपक्षीकी शंकाका अनुवाद करते हैं—

बहुशः परिचिन्तिता श्रुति—
र्नेनुगीता न न वा विचारिता ।
मनसे तु तदेव रोचते
यदमुत्रानिश वर्ज्यमीरितम् ॥ १०२ ॥

श्रुतिका भी बहुत मनन किया तथा गीताके विचारमें भी कोई कमी नहीं रक्खी, तो भी मनकी तो उन्हीं पदार्थोंमें रुचि है जिनका कि शास्त्रोंमें निषेध है ॥१०२॥

मनः क्षणं धावति चन्द्रमण्डलं
क्षणं विशत्येतदहो रसातलम् ।
क्षणेन पर्यट्य दिगन्तचक्रकं
द्रुतं समश्नोति समग्रभूतलम् ॥ १०३ ॥

कभी तो मन स्वर्ग प्राप्तिके लिये पुण्यकर्मोंकी ओर दौड़ता है और कभी नरकमें डालनेवाले पापोंकी ओर जाता है तथा कभी मनुष्यलोकमें ही उन्नति करनेके लिये साधारण कर्म करने लगता है। इस प्रकार थोड़े ही समयमें यह सारे ब्रह्माण्डमें फैल जाता है ॥१०३॥

अदो मनो जय्यमगासिषुर्बुधा
मुधा प्रलापानितरान्न किं जगुः ।
वियद्गदाभिः परिचूर्ण्य सर्वतो
महोदधौ क्षेप्यमहो जना इति ॥ १०४ ॥

पूर्व ऋषियोंने जो चञ्चल चित्तको भी जय होनेके योग्य कहा है तो इसी प्रकारके 'गदाओंसे आकाश का चूरा करके समुद्रमें फेंक दो' किन्हीं अन्य व्यर्थ प्रलापोंका उल्लेख क्यों नहीं किया ?

भाव यह है कि जिस प्रकार आकाशको गदासे चूर्ण करके समुद्रमें फेंकना एक असम्भव विषय है इसी प्रकार स्वभावसे चञ्चल और अनादि कालसे विषयोन्मुख रहनेवाले चित्तको अपने वशमें रखना भी सर्वथा असम्भव है। अतः ऐसा कहनेवाले ऋषि-मुनियोंके वाक्य प्रमाण नहीं हो सकते ॥१०४॥

उक्त आक्षेपका समाधान करनेके लिये आगे के दो पद्य हैं—

किमत्र चित्रं यदि वासमग्रके
सति प्रयत्ने पुरुषस्य दुर्दमे ।
प्रसत्तिमासेदुषि सर्वयन्तरि
प्रभौ न भः किं कतमद्दुरासदम् ॥ १०५ ॥

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यदि पुरुष पूरी तरह प्रबल प्रयत्न करे तो परमात्मा को प्रसन्न करके चित्तको जय कर सकता है, क्योंकि परमेश्वर की सहायता से आकाश को चूर्णित करना क्या, इससे भी दुष्कर कार्य सरलता से किये जा सकते हैं ॥ १०५ ॥

ततो न हेया धृतिरुत्तमामना-
अनादि दुर्वासनयाऽपि दूषितम् ।
मनः पुरा शुध्यति पुंस्प्रयत्नतो
निदर्शनं स्पर्शमयश्च पश्यत ॥ १०६ ॥

इसलिये पुरुषको चाहिये कि धैर्यका त्याग न करे, क्योंकि अनादि दुर्वासनाओंसे दूषित मन भी पुरुष प्रयत्नसे शुद्ध हो सकता है। इसमें लोह और स्पर्शमणिका दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

भाव यह है कि जैसे लोहा अनादिकालसे श्यामतादि दोषोंसे युक्त होने पर भी स्पर्शमणि (पारस) की सहायतासे क्षणभरमें सारे दोषोंसे शून्य होकर सुवर्ण बन जाता है इसी प्रकार अनादि कालसे रागद्वेषादि दोषोंसे दूषित भी अन्त करण परमात्माकी सहायतासे बहुत शीघ्र शुद्ध होकर आत्मज्ञानोपयोगी हो सकता है ॥ १०६ ॥

अब ग्रन्थकी समाप्तिमें पूर्वोक्त अर्थका उपसंहार करनेके लिये आगेके दो पद्य कहे जाते हैं—

अहो दुराशारशनाभिपाशितो-
ऽस्म्यहं सदा मर्कटवत्प्रनर्तितः।
त्वया विभो हे जगदीश सम्प्रति
प्रमुञ्च मां त्वा प्रणमामि भूरिशः ॥ १०७ ॥

हे विभो! हे जगदीश्वर! तुमने दुराशारूप रस्सीमें बाँधकर बन्दरके समान मुझसे तरह-तरहके पुण्यपापोंका अनुष्ठान रूप नृत्य कराया है। अब मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे इस बन्धनसे मुक्त करदो ॥ १०७ ॥

पतिः पशूनामसि वेद घोषितः
कुतः पशुं मामपि नैव पासि भोः।
न शक्यते चेत्पतिभावमुत्सृजे-
रहं पशुत्वं विजहामि ते विभो ॥ १०८ ॥

भगवन्! आपको वेदो मे पशुपति कहा है, जिसका अर्थ है पशुका पालन करने वाला, तो फिर आप पशुरूप मेरी रक्षा क्यो नहीं करते! यदि मेरी रक्षा नहीं कर सक्ते तो अपने पशुपति नाम को त्याग दो और मैं भी आप के प्रति अपना पशुनाम त्यागता हूँ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दुर्जय शत्रु को पराजित करने

के लिये प्रबल पुरुषकी सहायता की अपेक्षा होती है उसी प्रकार संसाररूपी दुर्जय शत्रुको जय करनेके लिये सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की प्रसन्नताका सम्पादन करना आवश्यक है। अतः प्रत्येक मोक्षार्थी को भगवत्परायण होना चाहिये ॥ १०८ ॥

सकाम पुरुष भगवद्भक्तिका पूरा फल प्राप्त नहीं कर सकता। अतः मोक्षकी इच्छासे ही भगवद्भक्ति फलदायिनी होती है। यह बात अन्तिम श्लोकसे कहते हैं:—

अलं फलेनेह सुपर्वसम्पदा
कृतं विरिञ्चेः पदवीक्षयाऽपि मे।
न विष्णुधिष्ण्यं न च भर्गभूमिका
यथाद्रिये ब्रह्म भजामि निर्भयम् ॥ १०९ ॥

देवलोक स्वर्गकी प्राप्तिसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है, ब्रह्मलोक की भी मैं इच्छा नहीं रखता, विष्णुलोक तथा शिवलोक में भी मेरी श्रद्धा नहीं है। परन्तु 'निर्भय ब्रह्मपद मुझे प्राप्त हो' यही मेरी सदा कामना रहती है। इस प्रकार निष्काम होकर जो पुरुष भगवान्का भजन करता है वह अन्त करणकी शुद्धि द्वारा आत्म-साक्षात्कार प्राप्तकर परमपदका अधिकारी हो जाता है। इसलिये भगवद्भक्ति ही मोक्षका सर्वोत्तम साधन है। अतः सबको इसीका

आश्रय लेना चाहिये। यही सारे वेद-शास्त्र तथा इस ग्रन्थका तात्पर्य है॥ १०६॥

ये स्युर्गुणाः कतिचिदत्र गुरोरिमे स्यु-
र्दीपाममैव सकला न तु ते गुरूणाम्॥
अम्भोदमुक्तभुजगास्य गते विपत्वं-
नीरे यदेतदुरगस्य न वारिदस्य॥ १॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ इति श्री वेदान्तरत्नाकरः सव्याख्यः समाप्तः॥

ग्रन्थोऽयम् इन्द्रप्रस्थे चर्खेवालान इत्याख्यवीथ्यां
श्री जगत्पाल सिंह वर्म्मणः सुप्रबन्धेन
ऐकेडैमिक यन्त्रालये मुद्रितः।